

सरकार और सत्तासीन दल और संघ परिवार ने बौद्धिक गतिविधियों के केंद्रों पर हमला करने की जो नीति अपनाई है, वह देश और समाज को रसातल की ओर लुढ़काने का निश्चित तरीका है। युवा छात्र अपनी पढ़ाई—लिखाई छोड़कर प्रतिरोध का युगधर्म निभाने को मजबूर हो रहे हैं। पहले पुणे के फिल्म एंड टेलिविज़न इंस्टीट्यूट ऑफ इंडिया (एफटीआईआई) में नाकाबिल लोगों को पदों पर बैठाकर और अब हैदराबाद विश्वविद्यालय में रोहित वेमुला की सांस्थानिक हत्या से लेकर फर्जी वीडियो दिखलाकर जेएनयू की वाम संस्कृति पर हमले तक यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आज देश में अद्योषित आपातकाल चल रहा है। सरकार के लक्ष्य पर प्रतिभावान युवा छात्र, और दलित—आदिवासी—अल्पसंख्यक समुदाय हैं।

जुल्मों के दौर से गुजरते हुए भी नई सुबह की उम्मीद दिखती है। जेएनयू कांड से यह फायदा हुआ है कि काश्मीर जैसे मुद्दे पर बातचीत मुख्यधारा में आ गई है। दक्षिण एशिया की हुकूमतों ने काश्मीर समस्या का इस्तेमाल फौज—पुलिस तंत्र को बढ़ाते रहने के लिए किया है। इसका सीधा असर तालीम और सेहत के क्षेत्रों पर पड़ा है। आज और लोग काश्मीर पर सोचने लगे हैं तो यह अच्छी बात है। बड़े भौगोलिक आकार से देश बड़ा नहीं होता। साक्षर, सेहतमंद और सुखी नागरिकों से देश बड़ा बनता है। वक्त आ गया है कि हिंदुस्तान और पाकिस्तान के नागरिक अपनी सरकारों पर दबाव डालें कि काश्मीरियों को दबाए रखने के लिए आम लोगों के खून—पसीने की कमाई फौजतंत्र और असला की खरीदारी में बहा देना और नहीं चलेगा।

सत्ता के करीबियों ने विश्वविद्यालयों में छात्र—राजनीति के औचित्य पर सवाल उठाया है। पूछा गया है कि सार्वजनिक खर्च से चल रहे संस्थानों में छात्र पढ़ाई के अलावा और कुछ क्यों करें। बेशक युवाओं को हिंसात्मक गतिविधियों से बचना होगा, पर यह कहना कि उन्हें राजनीतिक गतिविधियों में शामिल नहीं होना चाहिए, बेमानी है। ऐसा होता तो राष्ट्रीय आज़ादी की लड़ाई में भगतसिंह जैसे नाम न होते।

अभाशिअमं ने हैदराबाद और जेएनयू प्रकरणों पर सरकार की नाइंसाफी पर घोर आपत्ति जताई है। हम इस लड़ाई में युवाओं के साथ हैं। रोहित वेमुला, कन्हैया, उमर खालिद और उनके साथियों को हम लाल—नील सलाम और हूल—जोहार कहते हैं।

## नैरोबी और उसके बाद

—मधु प्रसाद

अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच,  
सदस्य, अध्यक्ष मंडल

उच्च शिक्षा का भविष्य गहरे विवाद का मसला है।

नैरोबी घोषणा के बावजूद, जिसमें सभी 164 सदस्य देश अगले कुछ वर्षों में कृषि उत्पादों पर निर्यात रियायतों को खत्म करने पर सहमत हुए थे, 'अमीर और गरीब देशों के बीच व्यापार में गहरा विभाजन बरकरार' है, और इसको लेकर गंभीर शक जाहिर किया जाता रहा है कि विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) भविष्य में कभी एक सार्थक बहुपक्षीय व्यापार उदारीकरण पर वार्ता कर पाने में सक्षम होगा। ऐसा लगता है कि समस्या का सार यह है कि भारत 'खेल बिगाड़ने वाली अपनी परंपरागत भूमिका को निभाने के काबिल नहीं' है जैसाकि इसने विकसित देशों को भविष्य की बातचीत के एजेंडे में 'नए मुद्दों' को ले आने की इजाजत दे दी लेकिन विकासशील देशों के पक्ष में दिखने वाले दोहा दौर के विकास के मुद्दों पर एक आम राय बनाने में नाकाम रहा।\* शायद यह भारत के वाणिज्य मंत्री की 'निराशा' को समझने में मदद कर सकता है, जो एक आला दर्जे की बातचीत की मेज पर जगह मिलने के भुलावे में आ गए और उन्होंने नैरोबी घोषणा पर दस्तखत कर दिए, लेकिन जिन्हें दोहा दौर आते-आते विकसित देशों और यहां तक कि ब्राजील तक ने किनारे कर दिया।

अब तक जनरल एग्रीमेंट ऑफ ट्रेड इन सर्विसेज (गैट्स) के बारे में कोई अहम बात सुनने को नहीं मिली है और न ही सुश्री सीथारमन की तरफ से ही इसका कोई संकेत कि भारत सरकार अकादमिक दुनिया और जनवादी राजनीतिक दलों की बढ़ती हुई और साझी मांग पर कैसी प्रतिक्रिया देगी कि उच्च शिक्षा को गैट्स से वापस लिया जाए। इसका भी कोई संकेत नहीं है कि सरकार इससे अवगत भी है। हालात जिस तरह के दिख रहे हैं, उनमें अगर दोहा दौर सचमुच खत्म हो गया तो इस प्रस्ताव को वापस लेने का मौका भी शायद खत्म हो जाए। भविष्य की बातचीत का नया एजेंडा उदारीकरण के एक आक्रामक चरण की शुरुआत करेगा और विकसित देशों

की मांगों के आगे पहले ही झुकने को तैयार भारत सरकार अब कहीं अधिक कमजोर हालत में होगी, भले ही यह अपने नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा करना चाहे।

वैसे जमीन पर उच्च शिक्षा को बचाने का संघर्ष जारी है। जैसे-जैसे सरकारी नीतियों द्वारा शिक्षा के निजीकरण और बाजारीकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है, वैसे-वैसे हालात तेजी से खराब होते जा रहे हैं और शैक्षिक व्यवस्था, अकादमिक अध्ययनों और आजादी पर हमला उल्लेखनीय रूप से तेज होता जा रहा है। गैट्स के कायदे के तहत शिक्षा को एक माल में तब्दील करने और व्यापार के लायक एक सेवा बना देने के क्रम में सबसे पहले यह जरूरी है कि सामाजिक रूप से सजग एक आलोचनात्मक अध्ययन और अभिव्यक्ति के लिए एक जीवंत जगह के रूप में शिक्षा की खासियत को तबाह कर दिया जाए। इसका मतलब यह है कि इसके घटक, सोचने, राय बनाने, बोलने, जुड़ने और निर्देश देने की आजादियों को बर्दाश्त नहीं किया जा सकेगा। चूंकि अकादमिक समुदाय इस जगह को बनाता भी है और उसे परिभाषित भी करता है, जो किसी भी आजाद, खुले हुए और स्थिर समाज के लिए इतना बुनियादी है, वह सरकार और उन ताकतों की व्यवस्थित और निजी हमलों का निशाना बनता है जो शोषकों और मुनाफाखोरों के हित में अवाम का उत्पीड़न करना चाहती है।

पिछले कुछेक बरसों में भारत में जो गैरमामूली और इक्की-दुक्की 'घटनाओं' के रूप में दिख रहा है, जैसे कि तर्कवादी विचारक नरेंद्र दाभोलकर की क्रूर हत्या, उसने इससे मिलती जुलती गोविंद पानसरे और प्रो. कलबुर्गी की हत्याओं के साथ मुक्त चिंतन के खिलाफ अचूक रूप से, पहले से तय और हिंसक, आक्रामकता का गुण हासिल कर लिया है। यह दूसरे चिंतकों और लेखकों के लिए भी खतरा है। प्रो. जी.एन. साईबाबा को उनकी 90फीसदी विकलांगता के बावजूद उनकी वैचारिक प्रतिबद्धताओं की वजह से हाल ही में जमानत से महरूम किए जाने के

बरअक्स, बलात्कार के आरोपी एक केंद्रीय मंत्री को जमानत दी गई और मौजूदा शासक दल के अध्यक्ष के खिलाफ मामलों को खत्म किया गया, जिनमें उनका नाम गैर-न्यायिक हत्याओं के आरोप पत्र में दर्ज था। ऐसी घटनाओं का मकसद असुविधाजनक लेकिन मजबूत आवाजों को चुप कराना है और उन दूसरे लोगों को दबाना और डरा देना है, जो आजादी के साथ सोचने और कार्रवाई करने की सोचते हैं।

यही वह चुप्पी थी, जिसको संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए तोड़ना जरूरी था। राज्य और केंद्र के स्तर पर अकादमिक संस्थाएं एक खास विचारधारात्मक खेमे के लोगों से भरी जा रही हैं— भले ही उनमें अकादमिक और प्रोफेशनल विश्वसनीयता दोनों की साफ-साफ कमी है। इसकी वजह से संबद्ध तबकों के बीच आशंकाएं और तीखी नापसंदगी बढ़ी। लेकिन इस गुस्से को सतह पर आने के लिए भारतीय फिल्म और टेलीविजन संस्थान (एफटीआईआई) के छात्रों जैसी साहसिक और निरंतर चली कार्रवाई की जरूरत थी। एफटीआईआई की प्रशासनिक संस्थाओं में घटिया स्तर की नियुक्तों को कबूल करने से उनके द्वारा इंकार किए जाने को फिल्म और टीवी उद्योग से, फिल्म निर्माताओं, अभिनेताओं, लेखकों और आम जनता की तरफ से मजबूत समर्थन हासिल हुआ। अपने प्रोफेशनल कैरियर की चिंताओं को छोड़ते हुए उनके निरंतर चले संघर्ष ने लोगों को इन अकादमिक और प्रोफेशनल संस्थाओं की अहमियत के बारे में अवगत कराया और लायक नियुक्तियों की जरूरत पर जोर डाला।

उत्तर प्रदेश की दादरी में आरएसएस/भाजपा नेताओं और समर्थकों की एक हत्यारी भीड़ द्वारा यह दावा करते हुए कि उनके घर में 'गोमांस' खाया और रखा गया था, मोहम्मद अखलाक के घर में जबरन घुस कर उनकी जघन्य हत्या किया जाना आखिरी धक्का साबित हुई। जब लेखकों उदय प्रकाश और नयनतारा सहगल ने इस बढ़ती हुई असहिष्णुता और राज्य द्वारा अपने नागरिकों के आजादी से जीने, काम करने और सोचने के अधिकार के बचाव में कोई कार्रवाई करने और यहां तक कि बोलने तक में पूरी तरह नाकाम रहने के विरोध में अपने साहित्य अकादमी सम्मान वापस लौटाए, तब शुरू हुई 'अवार्ड वापसी' ने मौजूदा असंवेदनशील सरकार को भी पीछे हटने पर मजबूर कर दिया। ऐसे में राष्ट्र की अगली पांत के इतिहासकारों, वैज्ञानिकों, अभिनय कलाकारों, चित्रकारों

वगैरह ने देश में एक धर्मनिरपेक्ष और जनवादी कायदों के विचार को ही तबाह कर देने के खतरे पर अपना विरोध जाहिर किया, तब हमारा बुद्धिजीवी तबका जिन नैतिक मूल्यों की सार्वजनिक रूप से पैरवी कर रहा था, उसकी मजबूत ताकत सबकी नजरों के सामने थी।

ऐसे माहौल में सरकार द्वारा उच्च शिक्षा को व्यापार के लायक एक माल के रूप में डब्ल्यूटीओ-गैट्स को सौंप देने का प्रतिरोध व्यापक रूप लेने लगा। देश भर में विश्वविद्यालय और कॉलेज कैंपसों में और शोध संस्थानों में छात्रों और फ़ैकल्टी सदस्यों ने अपनी आवाज उस बात के खिलाफ बुलंद की जिसे वे लोकतंत्र के भविष्य के एक खतरे के रूप में व भेदभाव और गैरबराबरी के खिलाफ लड़ाई में जनता के अधिकारों पर हमले के रूप में देखने लगे हैं। ऑक्यूपाई यूजीसी आंदोलन ने मोटे तौर पर और व्यापक रूप में शोध छात्रवृत्तियों को रोकने, शिक्षा के लिए बजट में कटौती करने और बाजार की जरूरतों के मुताबिक उच्च शिक्षा को ढालने की सरकार की कोशिशों का विरोध किया। डब्ल्यूटीओ उच्च शिक्षा को आर्थिक और प्रौद्योगिकीय विकास के एक वाहक के रूप में प्रोत्साहित करने का दावा करता है, लेकिन यह प्रोत्साहन इस तरह का नहीं होगा जो असहमतियों को बढ़ावा दे और उन 'नई' आवाजों के लिए राह को खोले जिन्हें लिंग, जाति, धर्म, इलाके, भाषा और विकलांगता पर आधारित भेदभावों के आधार पर ऐतिहासिक रूप से शिक्षा से वंचित रखा गया है। बाजार की संकीर्ण जरूरतों के मुताबिक शिक्षा में कतर-ब्योंर के जरिए छात्रों को प्रेरित किया जाता है कि वे शिक्षा को रोजगार के बाजार से जोड़ कर देखें। इस गढ़ी हुई 'जरूरत' का इस्तेमाल शैक्षिक कॉरपोरेशनों के लिए मुनाफा कमाने की एक जगह बनाने के लिए की जा सकती है। कर्ज लेकर पढ़ाई करने का चलन पूरी दुनिया में बढ़ रहा है। ऐसे में 'रोजगार हीन वृद्धि' का नवउदारवादी मॉडल इसको एक कर्ज के जाल में बदल रहा है।

अध्ययन और अभिव्यक्ति को एक स्वीकृत सीमा के बाद नियंत्रित करने वाली दमनकारी सरकारें शिक्षा के 'बाजार' को शोषकों के लिए सुरक्षित बनाना जरूरी समझती हैं। डब्ल्यूटीओ मांग करता है कि व्यापार को मुक्त करने के नाम पर अकादमिक समुदायों पर करीबी से निगरानी रखी जाए। संघबद्ध होने के जनवादी अधिकार और विरोध के कानूनी रूपों को राजनीतिक 'दखलंदाजी' के रूप में

खारिज किए जाने की जरूरत है, लेकिन कॉरपोरेट नियंत्रण और अबाध फीस वृद्धि का बचाव किया जाना जरूरी है। मौजूदा मानव संसाधन विकास मंत्री को दो प्रोफेशनल संगठनों, ऑल-इंडिया असोसिएशन ऑफ कॉलेज एंड यूनिवर्सिटी टीचर्स (एआईएफयूसीटीओ), और फेडरेशन ऑफ सेंट्रल यूनिवर्सिटी टीचर्स (एफईडीसीयूटीए) से मिलने का समय नहीं मिला है, जबकि वे आरएसएस के बौद्धिकों से लगातार मशविरे लेती हैं या उनके निर्देशों पर चलती हैं। पिछले कुछ महीनों में, हमने शांति से प्रदर्शन कर रही लड़कियों समेत छात्रों पर बेरहम पुलिस कार्रवाई भी देखी है। जब अधिकारियों को अकादमिक समुदाय की जायज मांगों और चिंताओं का सामना करना

पड़ता है, तो यह उनकी तरफ से अब एक आम प्रतिक्रिया बन गई है।

नैरोबी के बाद, यह मांग मजबूती से आगे बढ़ती रहेगी कि भारत सरकार डब्ल्यूटीओ-गैट्स के नियंत्रण से उच्च शिक्षा को वापस ले, लेकिन यह प्रतिरोध का अकेला बिंदु नहीं हो सकता। गैट्स के कायदों को लागू करने को आसान बनाने के लिए उच्च शिक्षा की प्रकृति और मकसद को विकृत करने और उच्च शिक्षा के बचाव में उठने वाली जनवादी आवाजों के दमन का विरोध करना होगा और रोज-ब-रोज के आधार पर एक लंबी लड़ाई लड़नी होगी। ■

\*ग्रेग रशफोर्ड, ओपीनियन/कमेंटरी, द वाल स्ट्रीट जर्नल, 21 दिसंबर 2015

(मूल अंग्रेजी से अनुवाद : रेयाज उल हक)

## इतिहास के पाठ्यक्रम में फिरकापरस्ती

—बर्णाली मुखर्जी

अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच,  
सदस्य, राष्ट्रीय कार्यकारिणी

सन् 1950 में धर्मनिरपेक्षता शब्द को संविधान में घुसने का अधिकार नहीं मिला था, 70 के दशक तक पहुंचकर समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता, इन दो शब्दों को जिन्होंने संविधान में डाला था, अगर वे सचमुच इसमें यकीन करते तो इसके बाद भी भारत और यहां तक कि इस राज्य (पश्चिम बंगाल) के इतिहास के पाठ्यक्रम में हिंदू मूलवादी नज़रिए से लिखे आजादी की लड़ाई के इतिहास के विवरण में फर्क होता। अंग्रेजों की 'बांटो और हुकूमत चलाओ' नीति की जो व्याख्या हिंदू-सांप्रदायिक नज़रिए से की गई है, उसमें बदलाव आता। इन लफ्जों को लेकर ऐसा धुंध फैलाया गया है कि इनका सबसे ज्यादा इस्तेमाल करनेवाले राष्ट्र सेवक संघ (आरएसएस) के लोग हैं, जिनके लिए 'मुसलमानों के शासन' से बचाने के लिए अंग्रेज़ भारत के मुक्तिदाता थे। संघियों के विचार में अंग्रेजों की गलती बस इतनी है कि उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए मुसलमानों की तुष्टि की है। जैसे, मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचक-मंडल या और दीगर राजनीतिक संरक्षण का इंतजाम किया गया था। इसी में वे 'बांटो और हुकूमत चलाओ' वाली नीति का अर्थ मानते हैं। अंग्रेजों और गांधीजी के बढ़ावे से ही मुसलमान 'सिर पर चढ़ बैठे थे और जिन्नाह जैसों की दो राष्ट्र सिद्धांत के नारे उठाने की हिम्मत हुई थी, ऐसा संघ परिवार के लोग कहते हैं। यह अस्वाभाविक नहीं है, पर खेद इस बात का है कि मुल्क के इतिहास का पाठ्यक्रम संघ परिवार ने नहीं रचा है। इसके बावजूद कुछ ऐसी धुंधली बातें मौजूद रखी गई हैं, जिनकी वजह से नरम और उग्र, दोनों तरह के हिंदू फिरकापरस्त ताकतों के विचारों के बने रहने में कोई दिक्कत नहीं आ रही। स्कूली तालीम से मिले और बचपन में फले-फूले विचारों और संघ परिवार के प्रचार में कोई ज्यादा फर्क नजर नहीं आता है। नरम फिरकापरस्त ताकतें कहती हैं कि गलती सारे मुस्लिम समुदाय की नहीं है, सिर्फ मुस्लिम लीग की है और उग्रवादी मानते हैं कि चूंकि मुस्लिम लीग सिर्फ मुसलमानों का दल है, इसलिए इसके जिम्मेदार मुसलमान हैं। आज तक भारत के छात्र यह नहीं जान पाते कि 1906 से 1947 तक की अवधि में मुस्लिम लीग की राजनीति, उनके विचार, आक्षेप, सचमुच में क्या थे। यह मान भी लें कि देश के बंटवारे के असली मुजरिम वे ही हैं, पर फांसी चढ़ते मुजरिम को भी दो-चार बातें कहने का मौका मिलता है, तो फिर इतिहास के पन्नों में उनकी ओर से दिए गए बयान गायब क्यों हैं? पाकिस्तान में भी ये बातें नहीं बतलाई जाती तो क्या इस मुल्क में भी तथ्य गायब रहेंगे? यहां हम इसी बात पर चर्चा करेंगे।

हम सब जानते हैं कि इतिहास चेतना की पहली शर्त यह है कि हर घटना पर बातें करते हुए उसके पहले और बाद की घटनाओं को जोड़कर देखा जाना चाहिए। पर 'बांटो और हुकूम चलाओ' नीति को समझने और समझाने में इस प्रक्रिया की मदद नहीं ली गई है। इसकी वजह से आज भी बच्चों के दिमाग में यह सवाल नहीं उठता कि आज़ाद मुल्क पर हुकूमत मुस्लिम लीग और कांग्रेस इन दो दलों के बीच बांटी जा सके—ऐसा निजाम क्यों नहीं बन पाया। जाति-धर्म पर आधारित कई दलों के होने के बावजूद कांग्रेस ही हमेशा यह दावा क्यों करती रही कि वही एकमात्र ऐसा दल है, जो हिंदू-मुसलमान-दलित हर वर्ग का प्रतिनिधित्व कर सकता है? इसलिए शासन करने का हक सिर्फ उन्हीं को मिल सकता है। आज के जमाने में जब गठबंधन सरकारें आम बात हो गई हैं, यह सवाल उठना स्वाभाविक था, पर फिर भी यह कभी नहीं उठा।

मुसलमान शासकों के तकरीबन 7 सदियों तक के शासन काल में जो कभी नहीं हुआ, 1850 के बाद से सांप्रदायिक दंगों का वह जाल कैसे फैलता चला? यानी कि यह तभी से हुआ जब से अंग्रेजों द्वारा निर्देशित चुनावी राजनीति का माहौल बना। तो फिर साम्राज्यवाद के अधीन हुए चुनाव और सत्ता की राजनीति फिरकापरस्ती की असल जड़ नहीं है क्या? धर्मनिरपेक्ष ताकतें चुनाव खत्म कर इस हाल को बदल नहीं सकते। तो फिर हल कहां छिपा हुआ है, यह ढूंढने के लिए हमें वापस इतिहास के पन्नों पर ही नज़र डालनी होगी, सत्ता के केंद्रीकरण और विकेंद्रीकरण के बीच ही भारत की आज़ादी की लड़ाई में इसका जवाब ढूंढा गया था।

जिन वामपंथी इतिहासकारों ने केंद्र या राज्य सरकार नियोजित पाठ्यक्रम में धर्मनिरपेक्षता के तत्व सही तौर पर डाले हैं, उनसे यह उम्मीद थी कि वे आंबेडकर के एक बयान को सिलेबस में डालेंगे, बयान यह था, 'भारतीयों में संविधान को लेकर विरोध की एक ही ज़मीन है, संघीय संरचना कैसी होगी। साथ चलने वाले विषयों (केंद्र और राज्यों में) की तालिका में क्या कुछ होगा', क्या यह केंद्र निर्धारित करेगा या राज्य।' बेशक सिर्फ संविधान सभा ही नहीं, भारत की आज़ादी की लड़ाई में भी बुनियादी तौर पर यह विवाद चलता रहा। 15 राज्यों में संख्याबहुल हिंदू और 7 राज्यों में मुस्लिम संख्याबहुल, भारतवर्ष साम्राज्यवाद के लिए सोने की चिड़िया थी। ऐसे मुल्क में धर्मनिरपेक्षता बनाए रखने की पहली शर्त उसके हिंदू राष्ट्र न होने की है। आगे हिंदू राष्ट्र न होने की पहली शर्त है कि एक आदमी एक वोट के आधार पर बनी राजनीतिक व्यवस्था में केंद्र ताकतवर नहीं रहेगा, बल्कि राज्यों को ताकत मिलेगी या और भी विकेंद्रीकरण कर पंचायतें ताकतवर होंगी, ताकि देश में 7 'मुस्लिम सरकारें' और 15 'हिंदू सरकारें' हों तो संतुलन बना रहे। जैसाकि कुछ हद तक हम मोदी के शासनकाल में देख रहे हैं। क्षेत्रीय दलों की ताकत की वजह से संसद में बेरोक ताकत वाले मोदी का अश्वमेध घोड़ा राज्य सभा में रुक गया है। इसी वजह से आज़ादी की लड़ाई के दौरान हिंदू फिरकापरस्त नेताओं में संघीय ढांचे के प्रति घोर नापसंदगी थी। इसके उलट सत्ता में हिस्सा मिलने की संभावना से संयुक्त राज्य जैसा संघीय ढांचा मुस्लिम नेताओं को पसंद था। इस मतभेद को समझकर ही अंग्रेजों ने बार-बार संघीय ढांचे का प्रस्ताव राष्ट्रवादी नेताओं के सामने रखा और इस मतभेद की आग में घी डाला। हालांकि आखिर में फिरकापरस्त हिंदू नेताओं के साथ ही उन्होंने सहमति रखी, उनकी शर्तों पर ही अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने मुल्क का बंटवारा किया। यही अंग्रेजों की 'बांटो और हुकूमत करो' नीति का असली मतलब था। अंग्रेजों ने बार-बार यह दिखलाना चाहा कि भारतीय नेता अपने बीच समझौता कर दिल्ली और राज्यों में संयुक्त सरकार बनाने के लिए तैयार नहीं थे। इसलिए भारत अब तक आज़ादी के काबिल नहीं हुआ था। इसलिए अल्पसंख्यक और दलित नेताओं का सहयोग अंग्रेजों को मिलता रहा।

1. सन् 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। इसके ठीक एक साल पहले बंग-भंग आंदोलन हुआ था। आम समझ यह है कि एकजुट होकर आंदोलन हो तो सारे मतभेद मिट जाते हैं, सामयिक ही सही। इसलिए सवाल रह जाता है कि किन बातों को लेकर बंग-भंग आंदोलन हुआ था। कवि गुरु (रवींद्रनाथ) को सद्भाव बनाने के लिए राखी पहनाने सड़कों पर क्यों उतरना पड़ा था?
2. मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचक मंडल या और दीगर आरक्षण का इंतज़ाम कर अंग्रेजों ने नाइंसाफी की थी, इस बात को हूबहू मान लेना सरकारी किताबों के लेखकों के लिए संभव नहीं है, क्योंकि भारत के वर्तमान संविधान में समाज के पिछड़े तबकों की तरक्की के लिए खास सुविधाएँ दी गई हैं, इस आरक्षण को वैचारिक स्वीकृति देने में वे मजबूर हैं। यहां तक की कांग्रेस दल के 1916 के लखनऊ में हुए महासम्मेलन में पारित 6,7 व 8 अनुच्छेद के

प्रस्तावों में इन सभी संशोधनों को स्वीकार किया गया था। पर बाद में वे पीछे क्यों हटे, किताब में इसका कोई जवाब नहीं मिलता। अल्पसंख्यकों को खास राहतें, राज्यों की स्वदेशी सरकारों की अधिक सत्ता (मोर्ले मिंटो और मॉटेंगु चेम्सफोर्ड) और मुसलमान जनता के अगुवा संभ्रांत परिवारों से आए नेताओं की राजनीतिक सत्ता की मांग में 'राष्ट्रवादी' नेताओं ने गलत क्या देखा था, इतिहास की किताबें इस पर चुप हैं।

3. खिलाफत आंदोलन और पहले असहयोग आंदोलन में हिंदू और मुसलमानों ने जिन्नाह और गांधी के एकजुट नेतृत्व में संघर्ष किया। पर उस आंदोलन का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष चुनावों का बॉयकॉट (पहली और आखिरी बार) क्यों रहा? मुसलमानों के लिए चुनावी आरक्षण होने से अगर चुनावों का बॉयकॉट नहीं होता तो मुस्लिम लीग स्वाभाविक तरीके से प्रांतों में सत्ता के निकट पहुंच जाती। अंतर्राष्ट्रीय भागीदारी में चुनावों का बहिष्कार करने में सहमत होकर मुसलमान नेताओं में और उनके प्रभाव में मुसलमान जनता में यह अहसास बढ़ा कि उनके साथ धोखा हुआ था। यहां यह उल्लेखनीय है कि बंगाल और यूनाइटेड प्राविन्स के हिंदू मुसलमानों की जनसंख्या और संभ्रांत मुसलमानों की संख्या पर सोचने पर चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू जैसे द्वारा चुनाव के बहिष्कार पर आपत्ति स्वाभाविक थी। उस मत को कांग्रेस के नेतृत्व ने क्यों अस्वीकार किया? इन शंकाओं को मिटाने की जिम्मेदारी आज़ाद मुल्क के इतिहास का पाठ्यक्रम नहीं ले रहा है।
4. सन् 1919 में घोषणा हुई थी कि अंग्रेज़ दस वर्षों में ही भावी संविधान का मसौदा पेश करेंगे। यानी राष्ट्रवादी नेताओं के हाथ काफी वक्त था कि वे मुस्लिम लीग और दूसरे दलों के साथ मिल बैठकर संविधान का मसौदा (आज की भाषा में सीएमपी – कॉमन मिनिमम प्रोग्राम) तैयार करें। पर तथाकथित धर्मनिरपेक्ष नेताओं ने ऐसी कोई कोशिश नहीं दिखलाई। राष्ट्रवादी नेता आज़ादी के लिए इतने आतुर भी नहीं थे कि वे संपूर्ण आज़ादी मिलने से पहले अंग्रेजों के साथ भावी संविधान पर चर्चा से परहेज करते। राष्ट्रवादी नेताओं के मंच कांग्रेस दल ने तो तब तक पूरी आज़ादी की मांग तक नहीं की थी। ऐसी कोशिश क्यों नहीं हुई, माध्यमिक, उच्च-माध्यमिक स्तर की किताबें इस पर चुप हैं।
5. नेताओं की आंखें तब खुलीं जब भावी संविधान पर चर्चा के लिए अंग्रेजों के प्रतिनिधियों (साइमन कमीशन) के आने के दो साल पहले 1927 में जिन्नाह जैसे ने संविधान के बारे में अपनी सोच और 14 दफे मांग पेश की। इनमें संघीय संरचना और दीगर राजनीतिक आरक्षण के संकेत थे। हालांकि मार्च महीने के बीच तक वे निर्वाचक-मंडल के प्रस्ताव से अलग हो गए। और कांग्रेस के साथ ही एकजुट होकर साइमन कमीशन के बहिष्कार की आवाज उठाई। मई महीने में कांग्रेस के अधिवेशन में जिन्नाह और सहयोगियों के प्रस्ताव को कांग्रेस ने स्वीकार किया। तो फिर फरवरी 1928 में 180 डिग्री पलट कर मोतीलाल नेहरू की रिपोर्ट की ओर राष्ट्रवादी नेता क्यों झुके? उस रिपोर्ट में संघीय ढांचे का साफ तौर पर विरोध किया गया, सिर्फ मुस्लिम अल्पसंख्यकों के क्षेत्रों में ही आरक्षण को माना गया। हिंदू बहुसंख्यक सिंध प्रांत को बाम्बे प्राविन्स से अलग किया गया। इसके बाद तो जिन्नाह को पूरी तरह दोषी ठहराना मुश्किल है। सिंध प्रदेश को अलग करने की बात मान कर उन्होंने एक और प्रस्ताव रखा – सब लोगों को मताधिकार मिलने तक बंगाल और पंजाब में मुस्लिमों के लिए आरक्षित शासन हो, इसे भी रद्द कर दिया गया, 1928 साल को जिन्नाह ने 'पार्टिंग ऑफ वेज़ (अलग रास्ते चुनना)' कह कर चिन्हित किया है। साइमन कमीशन ने केवल अल्पसंख्यकों को आरक्षण ही नहीं दिया बल्कि राज्यों को अधिक सत्ता के जो प्रस्ताव पहले पेश हुए थे, वे तक स्वीकारे गए। यह जानते हुए भी कि इससे हिंदू राष्ट्रवादी नेता नाराज हो जाएंगे। यह आक्रोश इतना तीव्र था कि कांग्रेस दल ने अपने जन्म के चार दशकों के बाद, पहली बार पूर्ण स्वाधीनता शब्दों का नारा उछाला। यह क्या इसलिए था कि फिरकापरस्त नज़रिए को छिपाया जा सके?
6. इतिहास के पाठ्यक्रम में भी राष्ट्रवादी नेताओं के तर्क को छपा गया, कि साइमन कमीशन में कोई भारतीय प्रतिनिधि नहीं था। भारत के शहीदों के खून से रंगे बर्तानवी संसदीय ढांचे की पूरी तरह नकल करने के लिए जो उतावले थे, आलमी जंग के साथ कोई संबंध न होते हुए भी अंग्रेजों की संसद की अनुमोदित लड़ाई में हिस्सा लेने को जिन्होंने दोनों हाथ उठा कर समर्थन दिया, उनकी जुबान पर ऐसे निराधार तर्कों को पाठ्यक्रम ने स्वीकृति क्यों दी? तकर्रीबन हर दल के मुस्लिम नेताओं ने इंग्लैंड जैसे केंद्रीकृत संसदीय गणतंत्र की हूबहू नकल के खिलाफ कहा था, यहां तक कि कांग्रेस के अध्यक्षों में प्रमुख मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने भी विरोध किया था। उनकी अर्जी थी कि मुसलमान नेतृत्व के साथ देश की सत्ता बांटने लायक ढांचा बनाना चाहिए। अंग्रेजों के ढांचे को भावी

भारत का स्वरूप बनाने से देश का बंटवारा रुक नहीं सकता, ब्रिटिश राज के बाद हिंदू राज तैयार होगा और आशंका थी कि इससे स्थिति बिगड़ेगी, इन चेतावनियों के बाद भी उनकी बात क्यों नहीं मानी गई, यह इतिहास की किताबों में नहीं सुनाई पड़ता।

7. दूसरा असहयोग आंदोलन का पहला चरण खत्म होने पर जब गोलमेज बैठक हुई तो उसमें कांग्रेस की ओर से उच्च-स्तरीय नेता क्यों नहीं शामिल हुए, अंग्रेजों के सामने मुस्लिम लीग के नेताओं का मुकाबला करने के लिए हिंदू महासभा के धुरंधर नेताओं को क्यों भेजा गया, और उस बैठक में राज्यों की सत्ता बढ़ाने के लिए मुस्लिम लीग और रजवाड़ों ने एकजुट होकर बात रखी, इसलिए इस मांग को प्रतिक्रियाशील कहकर आसानी से खारिज करते हुए सामने लाया जाता है। इतिहास की किताबें गांधारी हो जाती हैं।
8. भारत के संविधान में सन् 1935 के भारतीय प्रशासनिक कानूनों का बहुत कुछ आज भी मौजूद है, पर छात्रों को यह आज भी पता नहीं चलता कि उनके किन हिस्सों पर हिंदू नेताओं की आपत्ति थी। तो क्या मुस्लिम नेताओं की यह शंका सही है कि उनकी आपत्ति सिर्फ उसमें मौजूद संघीय ढांचे के पहलुओं पर थी?
9. दूसरे असहयोग आंदोलन के दूसरे चरण में दलित नेताओं ने भी राजनीतिक सत्ता में हिस्सेदारी की मांग रखी, इस महत्वपूर्ण बात को इतिहास के सिलेबस से अलग क्यों रखा गया?
10. पाठ्यक्रम में यह बात नहीं मिलती कि कम्युनिस्टों के जन्म के कुछ ही समय बाद सभी समुदायों के मजदूरों को शामिल करते हुए वर्ग संघर्ष के जरिए व्यापक सांप्रदायिक सद्भावना का माहौल तैयार हुआ था, जिसकी वजह से 1937 में चुनावों में हर संप्रदाय के मतों के बल पर कांग्रेस को बड़ी सफलता मिली थी। पर तुलनात्मक रूप से असफल हुए मुस्लिम लीग से जीत कर आए सदस्यों को संसदीय गणतंत्र के अंधभक्त हिंदू सांप्रदायिक नेताओं ने कहा कि वे अपने दल का परचम छोड़कर व्यक्ति के रूप में यूनाइटेड प्राविन्स की सरकार में शामिल हों, इस बात का हालांकि केंद्रीय सरकार नियोजित पाठ्यक्रम में उल्लेख मिलता है (जिसकी वजह से नरेंद्र मोदी आदि पाठ्यक्रम बदलने को तत्पर हैं), पर राज्य सरकार की किताबों में यह भी मौजूद नहीं है।
11. हालांकि यह बात पाठ्यक्रम में नहीं है, पर इतिहासकारों ने माना है कि 1937 से 1939 तक कई क्षेत्रीय कांग्रेस सरकारें हिंदू महासभा के करीब थीं।
12. जैसे सन् 1929 में आज़ादी की शपथ लेकर संघीय ढांचे को रद्द किया गया था, उसी तरह हरिपुरा अधिवेशन में कांग्रेस ने समाजवाद की शपथ लेकर उसे फिर से रद्द किया – इतिहास की किताबें यह बात नज़रअंदाज़ करती हैं।
13. इतिहास के पाठ्यक्रम में प्रभावी ढंग से मुस्लिम लीग पर देश के बंटवारे की सारी जिम्मेदारी डालकर, जिन्नाह को दो राष्ट्रों के सिद्धांत का जनक कह कर और पूरे मुस्लिम समुदाय पर स्याही फेंकने की हरकत जारी है, जबकि पुस्तक-लेखकों के अध्यापक जैसे सुमित सरकार ने बड़े निश्चित तौर पर यह आक्षेप लगाया है कि अगर राष्ट्रवादी नेता चाहते तो सन् 1940 के लाहौर सम्मेलन में 'इंडेपेंडेंट स्टेट्स (आज़ाद राज्य)' के स्वीकृत प्रस्ताव को पाकिस्तान प्रस्ताव की तरह न बखान कर इसे स्वायत्त शासित राज्य की तरह भी देख और दिखा सकते थे। ऐसा कइयों ने कहा है, कि अल्पसंख्यकों के मन में जम चुके आतंक को राज्यों के स्वायत्त शासन द्वारा कम किया जा सकता था।
14. दूसरा आलमी जंग शुरू होते ही कांग्रेस ने फिर पहले जंग की स्थिति पर वापस लौटते हुए अंग्रेजों को तन-मन-धन से समर्थन करने का वादा किया। दिसंबर 1940 में जेल से निकलते ही नेहरू ने कहा कि हालांकि यह जंग बाज़ार के बंटवारे की लड़ाई है, पर दुनिया की तरक्कीपसंद ताकतें निश्चित ही अंग्रेजों का साथ देंगी। आज़ाद ने कहा कि उनका तत्कालीन अंग्रेजों का विरोध पहले के 20 सालों जैसा ही चलेगा, यानी कि 'अंग्रेजो भारत छोड़ो', जैसा कोई नारा नहीं लगाया जाएगा। 30 दिसंबर 1941 को वर्धा के विवादास्पद अधिवेशन में गांधीजी का अक्षीय ताकतों (जापान और जर्मनी) के पक्ष में मत होने के बावजूद नेहरू और उनके सहयोगियों के मत की ही जीत हुई। "हालांकि अंग्रेजों ने हमारे प्रति अपनी नीतियों में कोई बदलाव नहीं किया है, पर आलमी हालात के मद्देनज़र हम मित्र-ताकतों (ब्रिटेन, फ्रांस आदि) के प्रति सहानुभूति रखेंगे।" कम्युनिस्टों ने 'ना एक भाई (अंग्रेज़ी सेना में भारतीय), न एक पाई (पैसा)' नारा उठाते हुए कांग्रेस को आह्वान दिया कि अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई

लड़ी जाए। दिसंबर 1941 में जापान की जंग में शामिल होने पर गांधी और पटेल ने तुरंत अपने विचार बदले। फरवरी 1941 में सिंगापुर के हाथ से निकलने पर बाकी सभी आज़ाद खयाल राष्ट्रवादी नेताओं ने समझ लिया कि दलबदल करना जरूरी हो गया है। आखिरकार सबकी सहमति से 9 अगस्त 1942 को 'अंग्रेज़ों भारत छोड़ो' का नारा दिया गया। सुमित सरकार ने कहा है, "जेल में रहकर निरपेक्षता का बहाना किया जा सकता है, साथ ही मुल्क के राज्यों की सरकारों की मदद से जापान को भारत में लाया जा सकेगा।"

15. इस देश के लोगों को अपने पक्ष में रखने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रतिनिधि बन कर ब्रिटिश लेबर दल के नेता क्रीप्स दौड़े-दौड़े एक लोभनीय प्रस्ताव लेकर आए। राष्ट्रीय सरकार का गठन कर (जंग से जुड़े इदारे राष्ट्रीय सरकार के नियंत्रण से बाहर रहेंगे) व्यवहारिक रूप से आज़ादी, पर संघीय ढांचे का प्रस्ताव पूरी तरह कायम रहेगा। प्रस्ताव में मुस्लिम नेताओं की आकांक्षाओं को जाहिरा तौर पर रखा गया था – संघीय ढांचा तो था ही और कांग्रेस, लीगी और दूसरे दलों के प्रतिनिधियों को मिलाकर राष्ट्रीय सरकार बनाने का प्रस्ताव और जंग खत्म होते ही आज़ादी मिलेगी। हिंदू सांप्रदायिक तथाकथित राष्ट्रवादी नेतृत्व ने इस प्रस्ताव को एक स्वर में खारिज किया। पर किसी ने यह सोचा नहीं था कि रूसी और चीनी जनता की बहादुरी से लड़ी लड़ाई से अक्षीय ताकतें इस तरह हार जाएंगी। सन् 1944 में जेल से निकलते ही राष्ट्रवादी नेताओं ने बड़ी बेशर्मी से "1942 की तरह ही अंग्रेज़ों की खिलाफी" न करने की इच्छा प्रकट की। दो साल पहले जिस क्रीप्स प्रस्ताव को खारिज किया गया था, उसमें से राज्यों के स्वशासन की बातें निकालकर बाकी सारे प्रस्ताव खुद ही से लिखकर बड़े लाट साहब के पास ले जाए गए। यानी कि देश के बंटवारे को अच्छी तरह हवा-पानी से सींचा गया।
16. सन् 1946 में कैबिनेट मिशन ने संघीय ढांचे पर और भी निश्चित प्रस्ताव रखे, जिसके साथ कई मुस्लिम और गैर-मुस्लिम नेताओं के पुराने विचारों का मेल दिखा। 7 जुलाई को आज़ाद के नेतृत्व में कांग्रेस के अधिवेशन में इस प्रस्ताव को स्वीकार भी किया गया, पर 10 जुलाई को नेहरू ने दल द्वारा मान लिए गए सिद्धांत के खिलाफ पत्रकारों को बयान दिया। आज़ादी के बस एक साल पहले मौलाना आज़ाद को प्रेसिडेंट पद से हटाया गया। नहीं तो दल की प्रथा मुताबिक प्रधानमंत्री का पद एक मुसलमान के लिए ही तय था। जिन्नाह ने कहा, "स्टेट्समैन शुड नॉट ईट देयर वर्ड्स (राजनायकों को अपने कहे से वापस नहीं लौटना चाहिए)"।
17. मुस्लिम नेताओं के साथ सत्ता में भागीदारी बांटने से नाराज़ हिंदू राष्ट्रवादी नेताओं के बदले हुए रुख ने स्थिति बदल डाली। और अंग्रेज़ शासकों के पलटे रवैए ने मुस्लिम लीगियों के सामने सीधी लड़ाई दिवस का नारा उछालने मौका ला दिया। लाखों लोग कत्ल हुए।
18. आज़ाद मुल्क में राज्यों के हाथ स्वशासन के पक्ष में पारित सभी प्रस्ताव रद्द हुए, केंद्र में गठबंधन की सरकार की संभावना खारिज हो गई। पी सी जोशी ने कहा है, "शिमला सम्मेलन में वही पुरानी बिना किसी बदलाव स्थिति रखते हुए कांग्रेस दल ने संदेश भेजा कि सत्ता के हस्तांतरण पर दो ही पक्ष बात करेंगे, कांग्रेस और ब्रिटेन। इस प्रक्रिया में दूसरे दलों को कैसे जोड़ा जाएगा, यह ब्रिटेन का सिरदर्द है, उनका नहीं।" उन्होंने कहा कि, "1939 से ही सत्ता बदलने में जो रुकावट आई है, उसकी वजह यह है कि भावी संविधान पर भारतीय एकमत नहीं हो पाए हैं," यही क्रम संविधान सभा की चर्चाओं के दौरान भी जारी रहा।
19. संविधान सभा ने भी शुरूआती दौर में ही तय किया कि सभी राज्य भारत में शामिल किए जाएंगे। नेहरू ने कहा, राज्यों को जनता द्वारा स्वायत्त शासित इकाइयों का दर्जा मिलेगा। युग्म (केंद्र और राज्य द्वारा साथ तय मसले) तालिका उनकी ही होगी, केंद्र के हाथों जो सत्ता होगी, उसके अलावा सब कुछ उनके पास होगा। यह भी कहा कि किसी राज्य की जनता अगर अपने लिए तानाशाही या राजशाही चुनती है, तो हमारी नापसंदगी के बावजूद हमें इसे मान लेना होगा। सबकी सहमति से संविधान-सभा में इसी सिद्धांत को मानना तय था
20. इस मामले में समिति के प्रधान होने के नाते पटेल ने 27 जून 1947 को समिति के प्रस्तावों को पेश किया। हालांकि यह भी कहा कि यह महज मसौदा है। आखिर में संविधान सभा में मुस्लिम लीग के शामिल न होने से प्रस्ताव खारिज हो गया। केंद्र-राज्य संबंधों की समिति की जिम्मेदारी पटेल के हाथों में थी।
21. 26 जनवरी 1950 के प्रस्तावित संविधान में तलाशने पर भी धर्मनिरपेक्षता शब्द नहीं मिला।



सत्ता के विकेंद्रीकरण के पक्षधर वामपंथियों के लिए राज्यों के हाथ स्वशासन के प्रस्तावों को और मुस्लिम लीग में साथ कांग्रेस की गठबंधन सरकार को मान लेना सैद्धांतिक रूप से कोई दिक्कत नहीं पैदा करता था। रजवाड़ों को दबाकर भी राज्यों को कैसे स्वशासन की क्षमता दी जा सकती है, यह तरीका भी वे आसानी से निकाल सकते थे। इतिहासकार और अंग्रेज़ अमला पेंडरेल मून ने भी माना है कि सोवियत ढांचे के जरिए ही अल्पसंख्यकों की मांगे मानी जा सकती थीं। इस तरह समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता को साथ रखना उन्होंने स्वीकार किया है। तब इतिहास को इस राह पर नहीं जाने दिया गया, आज सचाई हमें दिखला रही है कि मोदी और उसकी सरकार के लिए राज्यसभा गले में कांटे सी चुभ रही है, जहां कई धोखेबाज क्षेत्रीय दल हैं, पर उनके लगातार विरोध की वजह से ही लोकसभा में इतनी सीटें लेकर भी मोदी सरकार व्यावहारिक रूप से पंगु है। उन दिनों की मुस्लिम और लोकतांत्रिक नेतृत्व की वह मांग आज लोकतांत्रिक आंदोलनों के दबाव में लागू हो पाई है, पर समाजवादियों के न होने पर इसे लागू रखना असंभव होगा। इसलिए हमारे संविधान में समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता, इन दो शब्दों के शामिल होने के पीछे जो भी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दबाव रहे हों, यह सच है कि जैसे धर्मनिरपेक्षता से अलग समाजवाद नहीं होता, इसी तरह समाजवाद से अलग धर्मनिरपेक्षता नहीं होती। इतिहास की किताबों में सभी शंकाओं को दरकिनार कर यह सच कब स्वीकार किया जाएगा? ■

—मूल बांग्ला से अनुवाद : लाल्टू

## सार्वजनिक विश्वविद्यालय की मौत

— सतीश देशपांडे

रोहित वेमुळे के धूमकेतु की तरह गुजरने ने क्यों इतने सारे लोगों को हिला डाला? शायद इसका जवाब उसी डर में छुपा है, जहां हम धूमकेतु को आसन्न आपदा का रूप मानते हैं, जो डर हमने अपने पूर्वजों से विरासत में लिया है। हम आसमान में उस झुलसती हुई आत्मा के लिए रो रहे हैं, लेकिन असल में, हमारी पीड़ा उस बड़ी दुर्घटना के लिए है, जिसके बारे में इस घटना के द्वारा हमें पहले से बताया जा रहा है। यह बड़ी आपदा है वह संस्थान जहां रोहित ने आत्महत्या की — भारतीय सार्वजनिक विश्वविद्यालय, जो अब खुद यह ही कर रहा है।

इससे पहले की समझा जाए, की यह क्यों और कैसे हो रहा है, यह पूछना अनिवार्य है, कि हमें कोई फरक पड़ता है क्या? आखिरकार, अगर कोई भी वास्तव में एचएमटी घड़ियों, टेलीग्राम या मॉडर्न ब्रेड की कमी महसूस नहीं करता, तो एक सार्वजनिक-क्षेत्र के विश्वविद्यालय के निधन से किसी को क्यों फरक पड़ेगा? बदकिस्मती से सार्वजनिक संस्थान की जरूरत हमें आज, पहले से कहीं ज्यादा है। यह वह महत्वपूर्ण जगह है जहां आने वाले समय के न्याय के एजेंडों पर फ़ैसला किया जाएगा, उनका भाग्य लिखा जाएगा, वे एजेंडे जो यह तय करेंगे, की हमारे देश में प्रजातांत्रिक गणतंत्र का कोई भविष्य है भी या नहीं।

अगर आपको लगता है कि यह सब बढ़ा-चढ़ा कर कहा जा रहा है, तो जरा इन बातों पर गौर करें : नवउदारवादी भारत में असमानता बहुत तेजी से बढ़ रही है, देश का 50 प्रतिशत धन सिर्फ 1 प्रतिशत सबसे अमीर लोगों के हाथों में है, और 5 प्रतिशत से कम धन देश के गरीब 50 प्रतिशत लोगों के पास है। इस असमानता का एक परिमाण जाति भी है। भारत में जितने भी 55 डॉलर अरबपति हैं, उनमें से एक भी नीची जाति का नहीं है, मगर यह जातियां ही गरीबों की संख्या में सबसे आगे हैं। भूमि विभाजन और पर्याप्त तरीके से धन पर कर लगाने में हमारी विफलता को देखते हुए, वंचितों की सामाजिक गतिशीलता के लिए, उच्च शिक्षा ही एकमात्र चीज है जो हम देने की उम्मीद कर सकते हैं।

अच्छी खबर यह है कि उच्च शिक्षा में तेजी से विस्तार हुआ है। 1991 से 2013-14 के बीच उच्च शिक्षा में नामांकन की संख्या 6.5 प्रतिशत बढ़ी है (49 से 323 लाख); विश्वविद्यालयों की संख्या चार गुना बढ़ी है (184 से 723); 18-23 उम्र के बीच का सकल नामांकन अनुपात भी तीन गुना बढ़ा है (8.1 प्रतिशत से 23.9 प्रतिशत)। बुरी खबर यह है कि इस विस्तार में अधिकतर हाथ निजी संस्थानों का है। 65 प्रतिशत नामांकन का हिस्सा सिर्फ निजी संस्थानों का ही है, और इस स्तर पर 75 प्रतिशत संस्थान निजी हैं। अधिक फीस और फर्जी संस्थान (जैसे तमिल नाडु में, जहां तीन लड़कियों को

आत्महत्या करने पर मजबूर कर दिया ) की वजह से जो बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार हो रहा है, वह इस खंड के लिए एक विष के समान है। इस तरह के रैकेट राजनीतिक संरक्षण की वजह से पनपते हैं। हर आकांक्षी नेता कम-से-कम एक ऐसे संस्थान का मालिक है, और सांसदों का सबसे आम वास्तव्य आज के दिन में 'शिक्षाविद' हैं। वास्तविक परोपकार के अभाव में, निजीकरण शिक्षा असमानताओं को और गहरा कराती है क्योंकि, प्रभावी ढंग से, यह केवल धोखाधड़ी और बेहद महंगाई के बीच एक विकल्प प्रदान कराती है।

मगर जो सबसे बुरी खबर है, वह यह है कि हमारी सारी आकांक्षाओं का बोझ आत्म-विनाशक संस्थान के कंधों पर ही होना अनिवार्य है – वह है सार्वजनिक विश्वविद्यालय। इसके संकट के तीन मुख्य कारण हैं – पहला, मुखर अभिजात वर्ग का अपगमन, जो 'फर्स्ट वर्ल्ड फीस' वहन कर सकते हैं, और जो अब भारतीय संस्थानों के बारे में परवाह नहीं करते। दूसरा, वैश्विक और स्थानीय निजी कंपनियों का उच्च शिक्षा के आकर्षक बाजार में प्रवेश करना, जो परोक्ष या सीधे रूप से राज्य संस्थानों को कमजोर मानते हैं। तीसरा, शासन के ढांचे का संघर्षी कटाव जिसके लिए नेताओं और शिक्षाविदों को दोष साझा करना होगा, जो नीति निर्माण में असंगति और सावधानी के अभाव का कारण बन गया है। स्वायत्तता, सत्ता में शासन की हर इच्छा को लागू करने के लिए उत्सुक कोमल शैक्षणिक प्रशासकों की मनमानी अधिनायकवाद के लिए एक ढाल बन गया है। समग्र प्रभाव है कि सार्वजनिक विश्वविद्यालय कद में सिकुड़ रहा है; जहां पहले वह आश्वस्त ओपन और लिबरल हुआ करता था, आज असुरक्षित, संकीर्ण दृष्टि का और रूढ़िवादी है।

व्यापक संकट के बीच, भारतीय उच्च शिक्षा अपने 155 साल के इतिहास में सबसे बड़ी चुनौती का सामना कर रही है, अर्थात् अब बहिष्कृत समूहों को अपने अंदर शामिल करने की चुनौती। आरक्षण और आर्थिक एवं जनसांख्यिकीय परिवर्तन के संयुक्त प्रभाव ने छात्र दल को मौलिक रूप से विविध बना दिया है, जो पहले सिर्फ ऊपरी और हावी दलों से भरा होता था। जाति और वर्ग असमानता, सामाजिक और शैक्षणिक धन के असमान निधि का कारण है, मगर निजीकृत शिक्षा से भिन्न, यह असामान्यताएं, अलग-अलग संस्थानों का पदक्रम नहीं पैदा करतीं। राजनीतिक हस्तक्षेप जैसे कि संविधान का 93वां संशोधन, ने यह सुनिश्चित कर दिया है कि जो सार्वजनिक शिक्षा के संभ्रात वर्ग हैं, जो एक प्रकार के मौन जाति रंगभेद के तहत काम करता है, अब एककृत है। अभिजात वर्ग के उन सार्वजनिक संस्थानों में तनाव सबसे अधिक है, जहां पहले से ही आरोपित जातियां उनके तत्कालीन एकाधिकार के उल्लंघन से क्रोधित हैं। यहां यह भी है कि औपचारिक उपयोग और ठोस निष्कर्ष के बीच अमूर्त चौड़ी खाई अभी तक सबसे स्पष्ट रूप से महसूस की जाती है और सबसे अधिक चौकसी से संरक्षित करी जाती है। इस खाई के रक्षक यह आलंकारिक सवाल कि, "एडमिशन, फेलोशिप, और सुविधाएं मिलने के बाद 'इन लोगो' को और क्या चाहिए?" — इस सत्य को दर्शाता है कि, एक तरफा प्रवेश तो लागू किया जा सकता है, पर समावेश नहीं, क्योंकि उसमें दूसरे वर्ग की पहचान जरूरी है।

इस मान्यता की मायावी प्रकृति और असंख्य सूक्ष्म तरीके जिससे इसको रोक जा सकता है, उनका वर्णन करना आसान नहीं है— लेकिन रोहित अपनी टूटे-फूटे लेखन में इस बात को उजागर करता है। आज सार्वजनिक विश्वविद्यालय का मकसद ऐसी मान्यताओं को जानना और पोषण देना है, या होना चाहिए। जो संस्थान यह करने से इंकार करती हैं, वह एक तरीके से अपने आपको ज्ञान का केंद्र नहीं मानतीं। शरीर तो भवनों, परिसरों, वेतन, फेलोशिप, या डिग्री में जिंदा रहता है, किन्तु वह आत्मा, जो अपने हिस्से की राशि से ज्यादा होने की उम्मीद रखता है, वह कहां चली गयी?

हम सही मायनों में तब ही कुछ बांट सकते हैं जब हम दूसरों को भी पूर्ण रूप से मालिक मानें, जब हम इस बात को समझ जाएंगे कि चाहे वह हमसे कितने भी अलग क्यों न हों, उनका अधिकार हमसे कुछ कम नहीं है। अगर हम आज साथ में विश्वविद्यालयों में नहीं रह सकते, तो वह दिन दूर नहीं जब हम इस देश में भी साथ में नहीं रह पाएंगे।

—मूल अंग्रेजी से अनुवाद : लाल्टू

<http://indianexpress.com/article/opinion/columns/death-of-hyderabad-central-university/>

## एक दलित छात्र की मौत : गर्व और पक्षपात के सवाल

प्रो. जी हरगोपाल

भूतपूर्व डीन, समाज विज्ञान निकाय, हैदराबाद विश्वविद्यालय  
अभाशिअमं प्रीसीडियम के सदस्य

संवैधानिक शासन—व्यवस्था और करीब सात दशकों की बदलती राजनीति के बावजूद, जातिप्रथा और फिरकापरस्ती में जकड़े कम—ज्यादा पैमाने की ताकत के, कई स्तरों में टुकड़ों में बंटा, दबंग भारतीय समाज अपनी वर्तमान संरचना पर अड़ा हुआ है। हाकिमों तक और उससे भी ज्यादा लोगों तक यह बात ले जाने के लिए कि समाज में लोकतांत्रिक बदलाव की रफ्तार में तेजी लानी होगी। हैदराबाद विश्वविद्यालय के मेधावी छात्र रोहित ने खुदकुशी कर ली। खुदकुशी के पहले लिखी टिप्पणी में उसने किसी का नाम नहीं लिया और यह भी कहा कि उसकी मौत के लिए कोई जिम्मेदार नहीं है। काव्यात्मक दार्शनिक और मंथन करती हुई यह कमाल की परिपक्व टिप्पणी हमें अंदर झांकने को मजबूर करती है कि हम सोचें कि समाज और तमाम सामाजिक रिश्तों में क्या कुछ गलत है। उसकी मौत के बाद संघ परिवार और खास तौर पर एबीवीपी के विमर्श का लहजा और स्वर बहुत हताशाजनक रहा है; इसमें जरा भी आत्मचिंतन नहीं है, बल्कि इसके विपरीत वे दूसरों पर दोष मढ़ने में जुट गए हैं, जिससे बेमतलब के और दुर्भाग्यपूर्ण विवाद जन्म लेते जा रहे हैं। आत्म—चिंतन के इस अभाव से उनकी यथास्थिति में गहरी आस्था दिखती है।

डॉ. आंबेडकर ने मुल्क के उत्पीड़ितों को चेतावनी दी थी कि अगर इंकलाब आता है तो उसे खारिज करती ब्राह्मणवादी विचारधारा प्रति—क्रांति लाने के काबिल है। इस बात में गहरी समझ है। हैदराबाद में दलित शोधकर्ता के जीवन के आकस्मिक अंत को हम इस बात से समझ सकते हैं। आज़ादी के बाद कुछ हद तक चुनावी सियासत और कुछ सामाजिक आंदोलन की वजह से हाशिए पर पड़े लोगों की चेतना में उभार आया। सदियों तक बंद रहे तालीमी संस्थानों के दरवाजे खुले और विश्वविद्यालयों के अहातों में गांवों से छात्रों की पहली पीढ़ी ने आना शुरू किया। इससे तालीम पाने वालों के सामाजिक स्वरूप में धीरे—धीरे बदलाव आने लगा। इससे एक नया माहौल बना। अगर ऊंची जातियों के अध्यापकों और छात्रों ने

अधिक मानवीय और लोकतांत्रिक माहौल बनाने के लिए इस बदलाव का स्वागत किया होता तो यह बदलाव आराम से आया होता। पर सुविधा—संपन्न वर्गों में यह अहसास बढ़ रहा है कि उनके लिए मौके कम होते जा रहे हैं, जिससे हमेशा के लिए तनाव पनपते चले।

सुविधा—संपन्न वर्गों से आए अध्यापक समाज को लगता है कि पहली पीढ़ी के सीखने वालों को पढ़ाना अधिक वक्त और मेहनत मांगता है। कुछ अध्यापकों में ऐसे पूर्वग्रह हैं कि उनके व्यवहार में ऐसे छात्रों के प्रति नफरत दिखती है। इस विश्वविद्यालय में डीन की हैसियत से मेरे लिए अक्सर ऐसे अध्यापकों को इन शोधकर्ताओं को सलाह देने के लिए समझाना बहुत मुश्किल होता था। उन्हें ऐसा भी लगता है कि आज की स्पर्धा वाली दुनिया में तरक्की के लिए राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में परचे छापना ज्यादा ज़रूरी है : मातृभाषा में पढ़कर आए ग्रामीण लड़के—लड़कियों को प्रशिक्षित करना नहीं। स्पर्धा का मूल्य—बोध और पुराने पूर्वग्रह परस्पर एक दूसरे को बढ़ाते हैं। दलित और ग्रामीण छात्रों में यह अहसास गहरा है कि यह महज ऊंची जाति का पूर्वग्रह है क्योंकि उनकी समझ उनके अपने अनुभवों पर आधारित है। इसी वजह से विश्वविद्यालय में आंबेडकर स्टूडेंट्स एसोसिएशन (एएसए) का जन्म हुआ। अध्यापकों और विश्वविद्यालय से प्रशासन से मुद्दों पर बहस के लिए यह एक सामूहिक संगठन बन गया। अपनी ताकत बढ़ाने के रास्ते और तरीके ढूँढते हुए उन्होंने मुखर दक्षिणपंथी छात्र संगठन अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (एबीवीपी) के साथ भी गुटबंदी की। यह देर तक नहीं टिका क्योंकि स्वभाव के पहलुओं में ऐतिहासिक कारणों से दिखने वाले गहरे जातिगत तनाव मौजूद थे।

स्वाभाविक था कि बृहत्तर बढ़ते या इस सियासी माहौल में दक्षिण—पंथी राजनीति के बढ़ने के साथ बढ़ती हुई चेतना से आपसी संघर्ष की राजनीति और सामाजिक ध्रुवीकरण बढ़ता गया। देश के विभिन्न हिस्सों में असहिष्णुता और राजनीति में फिरकापरस्ती चिंताजनक स्तर तक बढ़ती

गई। फिरकापरस्त राजनीति और इसमें लगातार बढ़ोत्तरी का विश्वविद्यालयों पर सीधा प्रभाव पड़ा है। अपनी पार्टी के सत्ता में आने के बाद नैतिक पहरेदारी की भूमिका अपनाते हुए एबीवीपी और आक्रामक होकर यह तय करने लगी कि विभिन्न विश्वविद्यालयों में किन बातों पर बहस हो सकती है और किन पर नहीं। इस प्रवृत्ति में वर्तमान संकट की जड़ें हैं। याकूब मेनन फ्रांसी पर चढ़ाए जाने के बाद एएसए ने मृत्युदंड का विरोध करते हुए जुलूस निकाला, जिससे एबीवीपी के विचारधारात्मक संवेदनाओं पर चोट पहुंची। उन्होंने इसे राष्ट्र विरोधी और एएसए के सदस्यों को गुंडे कहा। सारी दुनिया में मृत्युदंड पर बहस चल रही है। इस बहस न कर, वे इसे वरिष्ठ और सम्मानित नेता बंदारू दत्तात्रेय के पास ले गए, जिसने मानव संसाधन विकास मंत्री को चिट्ठी लिखी। जनता के प्रतिनिधि के रूप में वे मामले को विश्वविद्यालय में ही सुलझाने के लिए छात्रों को सलाह दे सकते थे या दोनों छात्र संगठनों को बुलाकर सुलह करा सकते थे। पूरे विश्वविद्यालय को उग्रपंथियों, जातिवादियों और राष्ट्रविरोधियों का अड्डा कहता वह खत किसी भी पैमाने में असहिष्णु कहलाएगा। एक जिम्मेदार मंत्री द्वारा सारे विश्वविद्यालय को इस तरह दोष देना सचमुच आपत्तिजनक है।

हैदराबाद विश्वविद्यालय देश के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में से एक है; संस्थानों की प्रतिष्ठा जांच और मापने की संस्था (एनएएसी) ने इसे ऊंचा रैंक (प्रतिष्ठा के क्रम में ऊपर) दिया है। समाज विरोधी तत्वों का अड्डा बन कर कोई विश्वविद्यालय इतने ऊपर नहीं जा सकता है। निंदा के ये विशेषण दरअसल कैम्पस की उन खुली बहसों के लिए लगाए गए हैं जिनकी वजह से विश्वविद्यालय बौद्धिक स्तर के शिखर पर पहुंचती है। एबीवीपी अपने वैचारिक पूर्वग्रहों की वजह से कई खुली बहसों से एतराज रखती है। समस्या की जड़ें उनकी असहिष्णुता में हैं और वे छल-बल से जैसे भी हो विरोध को दबाना चाहते हैं।

जब तक भाजपा दल में और इसके तथाकथित गौण शरारती तत्वों को यह बात समझ में नहीं आती कि चाहे जितना भी अप्रिय हो, लोकतांत्रिक विरोध को जगह देनी पड़ेगी, तब तक यानी बिना लोकतांत्रिक माहौल को बढ़ाए और सुरक्षित किए देश में शासन नहीं चल सकता।

यह ऐतिहासिक नियति है कि मुल्क के उत्पीड़ित जन भारत के संविधान में निश्चित की गई लोकतांत्रिक जगह के लिए अपनी आवाज उठाएंगे। जैसे कि कुछ अर्थशास्त्री खुद को झांसा दे रहे हैं, देश का विकास वृद्धि दर से नहीं मापा जा सकता, इसे आज़ादी और सबके लिए न्याय के पैमाने पर मापा जाएगा। राष्ट्रीय संस्थानों को दबाकर नवउदारवादी आर्थिक ढांचे वाले विदेशी और निजी विश्वविद्यालयों को थोपना चाहते हैं। देशभक्ति और राष्ट्रवाद का नारा देने वाली सत्ताहीन पार्टी इस विनाश-लीला का अधिकाधिक हिस्सा बनती जा रही है। लोकतांत्रिक आवाजों को दबाना विश्वविद्यालयों की तबाही का निश्चित उपाय है। इन्हीं चिंताओं को और घुटन भरे माहौल को पूरे समाज के सामने लाने के लिए रोहित ने खुदकुशी का खत लिखा था। उसके खतों और आखिरी टिप्पणी ने देश के विवेक को झकझोरा है।

समूचे देश को झकझोरते हुए रोहित ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई। उसके बाद जो बहसें चल पड़ी हैं, इन्हीं की आकांक्षा उसके मन में थी। पर हमारा तजुर्बा यह रहा कि हाकिमों को संकट लोकतांत्रिक ज़मीन में ही दिखता है और उनका समाधान यह है कि वे लोकतांत्रिक आवाजों को दबाना और दफनाना चाहते हैं। अगर ऐसा ही होता रहा तो हम इस लाजवाब अध्येता की स्मृति के प्रति घोर अन्याय कर रहे होंगे। एक सचमुच का लोकतांत्रिक राष्ट्र बनाना, जहां सदियों पुराने भेदभाव पर बहस के लायक माहौल तैयार हो और इसे खत्म करने के लिए संघर्ष हो, इसके लिए विश्वविद्यालयों में सृजनात्मक और दुःसाहसी खयालों पर उमंग भरी जगहे बनाना और उनको बढ़ाना ही सही रास्ता है।

—मूल अंग्रेजी से अनुवाद : लाल्टू

## शिक्षा में ऐतिहासिक परिवर्तन के . . .

(पिछले अंक में संदीप पांडेय का लेख 'शिक्षा में ऐतिहासिक परिवर्तन के मायने' प्रकाशित हुआ था। इसमें शामिल कुछ बयानों पर कई असहमतियां सामने आईं। यहां ताकील संपादक मंडल के सदस्य **फिरोज अहमद** अपनी बात रख रहे हैं – संपादक)

पिछले अंक में 'शिक्षा में ऐतिहासिक परिवर्तन के मायने' शीर्षक से संदीप पांडे का एक लेख छपा था। वह लेख दिल्ली सरकार के शिक्षा संबंधी विधेयकों व निर्णयों की एक आलोचना जरूर प्रस्तुत करता है मगर उसकी जमीन कमजोर है और भ्रामक मान्यताओं पर टिकी है। इस कारण उस लेख पर कुछ सवाल खड़े करने जरूरी हो जाते हैं ताकि आंदोलन ठोस समझ के आधार पर सही दिशा अख्तियार रखे।

उक्त लेख के बारे में एक-दो सूचनात्मक बातें जाननी आवश्यक हैं। लेखक सोशलिस्ट पार्टी (इंडिया) के सदस्य हैं और इसी लेख को सोशलिस्ट पार्टी (इंडिया) ने अपने पर्चे के रूप में छापा था। आज हम यह भी जानते हैं कि तब बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ा रहे लेखक को भी केंद्र में विराजमान दक्षिणपंथी ताकतों के फासीवादी हमलों का निशाना बनाकर न सिर्फ विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया है बल्कि तरह-तरह से प्रताड़ित किया जा रहा है। अभाशिअमं इसे शिक्षकों तथा शिक्षा संस्थानों की लोकतांत्रिक स्वायत्ता पर ब्राह्मणवादी-पूंजीवादी आघात मानते हुए इस संदर्भ में सरकार व विश्वविद्यालय प्रशासन के खिलाफ और लेखक के पक्ष में बयान जारी कर चुका है। यहां इन तथ्यों को रखने का उद्देश्य केवल इतना ही है कि हम समय-समय पर एक-दूसरे की समझ को वैचारिक आलोचना से लाभान्वित किए बिना आंदोलन को सही दिशा नहीं दे पायेंगे।

उक्त लेख दिल्ली सरकार के पूरे एक पृष्ठ के अखबारी विज्ञापन की आलोचना में लिखा गया था। लेखक के अनुसार विज्ञापन में स्कूली शिक्षा से जुड़े चार बिंदु थे जिनके बारे में कुछ दावे/वायदे किये गए थे। इनमें उनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप किए बिना निजी विद्यालयों के हिसाब-किताब की जांच करना, आठवीं तक फेल न करने के फैसेले को गुणवत्ता गिरने के कारण वापस लेना, नर्सरी दाखिले में चंदे व साक्षात्कार दोनों को बंद करना तथा निजी विद्यालयों के शिक्षकों को सरकारी स्कूलों के शिक्षकों के समान वेतन देने की कानूनी बाध्यता खत्म करना शामिल थे।

दिल्ली सरकार के इन चार प्रस्तावों के ऐतिहासिक होने के दावे पर सवाल खड़ा करते हुए लेखक कहते हैं कि इनमें से कुछ के 'लिए तो पहले से ही प्रावधान हैं बस उन्हें कड़ाई से लागू नहीं किया गया है।' इसका अर्थ है कि सरकार के निर्णयों की आलोचना का आधार व्यवस्थापरक बदलाव की जरूरत नहीं है, बल्कि राज्य की नीति का बेहतर क्रियान्वयन न होना है। यह प्रस्थान बिंदु लेखक की आलोचना को सीमित करके गलत दिशा में मोड़ देता है। इसी समझ का एक और उदाहरण देते हुए वो आगे कहते हैं, 'बड़ी मुश्किल से सभी विद्यालयों के लिए शिक्षा के अधिकार अधिनियम के तहत समान मानक लागू किये गए हैं।' जाहिर है कि यह कथन न केवल शिक्षा के अधिकार अधिनियम के सरकारी सत्ता के प्रचार से प्रभावित है, बल्कि इसमें कानून द्वारा घटिया मानकों तथा स्कूलों के भेदभावपूर्ण वर्गीकरण को वैध बनाने की भी परेशान करने वाली अनदेखी की गयी है। लेख एक भ्रम को तोड़ने के लिए दूसरे बड़े भ्रम की शरण में जाने की भूल करता है।

खतरनाक ढंग की मान्यता का दूसरा उदाहरण लेख में शिक्षकों के बारे में सतही, अपमानजनक व निराधार किस्म की टिप्पणियों में मिलता है। लेखक कहते हैं, 'शिक्षक इतना ज्यादा वेतन लेने के बाद भी कक्षाओं में पढ़ाते नहीं' और ये सवाल भी पूछते हैं कि 'क्या यह सही है कि शिक्षकों की कामचोरी का खामियाजा बच्चे भुगतें?' एक अन्य जगह वो पूछते हैं कि 'क्या गारंटी है कि शिक्षक बच्चों को नकल करा कर पास नहीं करायेंगे?' ये कथन किसी भी तरह खुद मुक्त-बाजार के पैरवीकारों के स्वार्थी आरोपों व दुष्प्रचार से अलग नहीं हैं। यह बात हैरान करने वाली है कि समाजवादी राजनीति की जमीन पर खड़े होकर व्यवस्था का वर्गीय, राजनीतिक-आर्थिक विश्लेषण करने के बजाय लेखक उन शिक्षकों पर दोष मढ़ने का आत्मघाती रास्ता अपनाते हैं जो कि खुद इस व्यवस्था में प्रताड़ित और सीमित भूमिका निभाने की स्थिति में हैं। ऐसे में लेखक 'टीच फॉर अमेरिका' जैसी नव-उदारवादी संस्थाओं की उस शातिराना व्यक्तिवादी सोच को ही प्रकट कर रहे हैं जिसके अनुसार बिना किसी व्यापक

सामाजिक-आर्थिक बदलाव के, सिर्फ बेहतरीन शिक्षक नियुक्त करके स्कूलों और उनमें पढ़ने वाले बच्चों की शिक्षा का कायाकल्प किया जा सकता है। हमें यह भी याद रखने की जरूरत है कि शिक्षा के किसी भी परिवर्तनकामी आंदोलन को शिक्षकों की सक्रिय प्रगतिशीलता के बिना मुकाम तक पहुंचाने की बात सोचना भी गफलत है।

कुछ अन्य कथन शिक्षा की अनुचित समझ पेश करते हैं। 'गरीब बच्चों' की बात करते हुए वो कहते हैं कि उनके माता-पिता के 'पास इतना पैसा नहीं है कि बच्चे को अलग से ट्यूशन पढ़ा सकें।' फिर सरकार के निर्णयों की आलोचना में यह शिकायत जोड़ते हैं कि इसमें 'शिक्षा की गुणवत्ता सुधारने पर कोई प्रस्ताव नहीं है।' वो यह शिकायत भी करते हैं कि 'परीक्षा न लेने का यह तो मतलब नहीं है कि शिक्षक पढ़ाना ही बंद कर दें।' ये कथन शिक्षा के लिए 'ट्यूशन' की जरूरत पर न सिर्फ सवाल नहीं उठाते, बल्कि उसे स्थापित करके शिक्षा में नव-उदारवाद के एक अन्य छद्म 'गुणवत्ता' को आगे बढ़ाते हैं। जहां 'गुणवत्ता' का विमर्श, समानता तथा अनुशासन की ज्ञानमीमांसा के सवालों को सूचकांकों व मापन से बदल कर बाजार की दार्शनिक भूमि तैयार करता है, वहीं ट्यूशन की बढ़ती परिघटना इसी बाजार का और प्रत्यक्ष आर्थिक पक्ष प्रस्तुत करती है। जाहिर है कि संकल्पनाओं को लेकर यह गड़बड़झाला तथ्यों तक पसरा है क्योंकि लेखक, कई अनजान आलोचकों की तरह, इस बात से अनभिज्ञ नजर आते हैं कि 'फेल न करने की नीति' का न यह घोषित हिस्सा है और न ही जमीनी अनुभव कि परीक्षाएँ नहीं ली जाएं। (बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी शिक्षकों के एक वर्ग की शिकायत यह रही है कि सतत व समग्र मूल्यांकन में - जो कि वर्तमान कानून में इस नीति का अंग है - शिक्षण की जगह निरंतर परीक्षण ने ले ली है। हालांकि इस आलोचना के बारे में यहां टिप्पणी नहीं की जा रही है।)

सरकार की इस दलील पर सवाल खड़े करते हुए कि फेल न करने की नीति को अभिभावकों की मांग पर हटाया जा रहा है, लेख में कहा गया है कि वो 'तो यह भी कहेंगे कि जरूरत पड़ने पर उनके बच्चे को मार-मार कर पढ़ाया जाये।' जहां एक ओर यह एक ऐसा कटाक्ष है जो कि बच्चों तथा सीखने/शिक्षा को लेकर भारतीय समाज की प्रतिगामी मान्यताओं को खारिज करता है, वहीं

यह समाज में आ रहे बदलाव की अनदेखी करता है और सभी अभिभावकों को एक ही रंग से रंगने का अन्याय करता है। वरिष्ठ विचारकों से यह अपेक्षा करना बिल्कुल स्वाभाविक है कि वो अपने लेखन में किसी भी वर्ग पर, चाहे वह जन्म-आधारित हो या पेशा-आधारित (जैसे शिक्षक) या भूमिका-आधारित (जैसे माता-पिता), टिप्पणी करते वक़्त इतनी सावधानी जरूर बरतेंगे कि उसे रूढ़िवादी ढंग से पेश न करें। यह तथ्य और न्याय दोनों स्तरों पर गलत है।

अंत में लेख यह पूछते हुए कि दिल्ली सरकार 'क्यों नहीं दिल्ली के ऐसे निजी विद्यालयों का सरकारीकरण कर' देती इस प्रस्ताव मात्र को 'जनता की समान शिक्षा प्रणाली की मांग' पूरी हो जाने के उपाय के रूप में प्रस्तुत करता है। यह भी प्रस्तावित किया गया है कि 'शिक्षा विभाग का एक अधिकारी या कर्मचारी हरेक विद्यालय में बैठने लगे जो वहाँ यह सुनिश्चित करे कि किसी सरकारी नियम-कानून का उल्लंघन न हो और खर्च पर भी नजर रखे। बाकी विद्यालय का प्रबंधन-तंत्र पहले की तहत रह सकता है।' यहां इतना कहना ही काफी होगा कि समान स्कूल व्यवस्था का यह चित्रण इसके राज्य-वित्त पोषित होने व पूरी तरह से मुफ्त होने जैसी आधारभूत शर्तों की घोर अनदेखी करके इसे सर के बल खड़ा कर देता है।

हो सकता है कि एक पर्चे की शकल में इतने मुद्दों पर लिखने की सीमा के कारण विचारों का कुछ सरलीकरण किया गया हो लेकिन शिक्षा के आंदोलनों से जुड़े लोगों पर यह गंभीर जिम्मेदारी है कि वो समान शिक्षा जैसे विषयों पर सार्वजनिक रूप से ऐसा कुछ न कहें जिससे जनता व साथियों में भ्रम फैले। आखिर दक्षिणपंथी व नव-उदारवादी ताकतें आंदोलनों को कमजोर करने के लिए खुद तो यह काम करती ही हैं, साथ ही वो हमारे बीच भी भ्रामक विचारों को तरह-तरह से प्रोत्साहित करती हैं। एक अन्य पक्ष यह भी है कि राजनीतिक प्रतिबद्धता सही दिशा में होने के बावजूद अगर हमारा किसी विषय-क्षेत्र का अध्ययन गहरा नहीं है तो हमें उस पर सार्वजनिक रूप से फौरी बयान देने से बचना चाहिए। सही मंशा जरूरी है लेकिन पर्याप्त नहीं। समाजवादी संघर्ष को आगे ले जाने के लिए सही समझ भी अनिवार्य है। अन्यथा हम भटकते रहेंगे। ■

## पाओलो फ्रेरे

“अतः इस वर्णनात्मक शिक्षा की प्रमुख विशेषता शब्दों की निनादिता होती है, न कि उनकी रूपांतरकारी शक्ति। “चार चौके सोलह होते हैं; पारा की राजधानी बेलेम है।” छात्र इन बातों को सुनता है, रटता है और यह जाने बिना इन्हें दोहराता रहता है कि ‘चार चौके सोलह’ का वास्तव में क्या अर्थ है, या ‘पारा की राजधानी बेलेम है, में राजधानी’ का असली मतलब क्या है; अर्थात् पारा के लिए बेलेम का और ब्राज़ील के लिए पारा का क्या अर्थ है।

वर्णन (जिसमें शिक्षक वर्णनकर्ता होता है) छात्रों को वर्णित वस्तु को यांत्रिक ढंग से रट लेने की ओर ले जाता है। इससे भी बुरी बात यह है कि वह छात्रों को ‘पात्र’ या बर्तन बना देता है, जिन्हें शिक्षक द्वारा भरा जाना होता है। जो इन पात्रों को जितना ज्यादा भर सके, वह उतना ही अच्छा शिक्षक। जो जितने ज्यादा दब्बूपन के साथ स्वयं को भरने दें, वे उतने ही अच्छे छात्र।

इस प्रकार शिक्षा बैंक में पैसा जमा करने की भांति छात्रों में ज्ञानराशि जमा करने का काम बन जाती है, जिसमें शिक्षक जमाकर्ता होता है और छात्र जमादार

“बैंकीय शिक्षा छात्रों की सृजनात्मक शक्ति को न्यूनतम कर देती है या समाप्त कर देती है और झट से विश्वास कर लेने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। इसलिए वह उत्पीड़कों का हित-साधन करती है, जो न तो यह परवाह करते हैं कि विश्व की वास्तविकता लोगों के सामने आए और न यह चाहते हैं कि विश्व का रूपांतरण हो। उत्पीड़क अपने ‘लोकोपकारवाद’ का इस्तेमाल एक लाभकारी स्थिति को बनाए रखने के लिए करते हैं। अतः वे, लगभग नैसर्गिक रूप से, शिक्षा में किए जाने वाले ऐसे किसी भी प्रयोग का विरोध करते हैं, जो छात्रों की आलोचनात्मक क्षमताओं को बढ़ाए और

(डिपोजिटरी) होते हैं। इसमें शिक्षक संप्रेषण करने के बजाए विज्ञप्तियां जारी करता है। वह जिन चीजों को ‘जमा करता’ है, छात्र उन्हें धैर्यपूर्वक ग्रहण करते हैं, रटते हैं और दोहराते हैं। यह शिक्षा की ‘बैंकीय अवधारणा’ (बैंकिंग कानसेप्ट) है, जिसमें छात्रों की सक्रियता के लिए सिर्फ इतनी गुंजाइश होती है कि वे जमाओं को ग्रहण कर लें, फाइल कर लें और संभाल कर रखें। इस प्रकार यह तो सच है कि वे जिन चीजों को जमा रखते हैं, उनके संग्राहक और सूचीकार बनने का अवसर पाते हैं, लेकिन अंततः वे इस व्यवस्था में, जिसे (सर्वोत्तम शब्दों में भी) विभ्रान्त व्यवस्था ही कहा जा सकता है, मनुष्य नहीं रहते और सृजनात्मकता, रूपांतरण तथा ज्ञान के अभाव में स्वयं ही फाइल होकर रह जाते हैं। कारण यह है कि जिज्ञासा के बिना, चिंतन और कर्म से युक्त आचरण के बिना, मनुष्य सचमुच मानवीय नहीं बन सकते। ज्ञान होता है आविष्कार और पुनराविष्कार करने से; उस बेचैन, अधीर, सतत और आशायुक्त जिज्ञासा से, जिसकी पूर्ति के लिए मनुष्य विश्व में, विश्व के साथ और एक-दूसरे के साथ सक्रिय होते हैं।”

—पृ. 33-34

यथार्थ के एकांगी दृष्टिकोण से संतुष्ट न रह कर हमेशा उन संबंध को देखने की कोशिश करे, जो एक बात को दूसरी बात से और एक समस्या को दूसरी समस्या से जोड़ते हैं।

वास्तव में उत्पीड़कों का हित, जैसा कि सिमोन द बुवा ने कहा है, इसमें होता है कि “उत्पीड़ितों की चेतना को बदला जाए, न कि उनका उत्पीड़न करने वाली स्थिति को”; क्योंकि उत्पीड़ितों को जितना ही उस स्थिति से अनुकूलित होने की दिशा में ले जाया जाएगा, उतनी ही आसानी से उन पर प्रभुत्व जमाया और उसे बरकरार रखा जा सकेगा।”

—पृ. 35

“इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उत्पीड़क शिक्षा की बैंकीय अवधारणा को एक पैतृकवादी सामाजिक कर्म के तंत्र के साथ इस्तेमाल करते हैं, जिसके अंदर उत्पीड़ितों को ‘कल्याण प्रापक’ की श्रुतिमधुर उपाधि प्राप्त होती है। इस तंत्र में उत्पीड़ितों को एक वर्ग, समुदाय अथवा आम जनता के रूप में नहीं, बल्कि निजी मामलों के रूप में देखा जाता है और उनके साथ ऐसे सीमांतीय मनुष्यों का सा व्यवहार किया जाता है, जो मानो एक ‘अच्छे, संगठित और न्यायपूर्ण’ समाज के सामान्य संगठन से विचलन करके स्वयं ही हाशिए पर चले गए हों। उत्पीड़ितों को स्वस्थ समाज की एक विकृति माना जाता है। अतः समाज का कर्तव्य यह बताया जाता है कि वह इन ‘अक्षम और आलसी’ लोगों की मानसिकता को बदले और इन्हें अपने नमूनों के मुताबिक ढाल कर समायोजित करे। इन सीमांतीय लोगों को उस स्वस्थ समाज में

‘संगठित करना’, ‘शामिल करना’ आवश्यक है, जिसका इन्होंने ‘परित्याग’ कर रखा है।

लेकिन सच यह है कि उत्पीड़ित लोग सीमांतीय अथवा हाशिए पर के लोग नहीं हैं। वे ऐसे मनुष्य नहीं हैं, जो समाज के ‘बाहर’ रहते हों। वे हमेशा भीतर रहे हैं—उस संरचना के भीतर, जिसने उन्हें ‘दूसरों के लिए जीने वाला’ बना रखा है। उनकी समस्या का समाधान उत्पीड़न की संरचना में उन्हें ‘संगठित’ करना नहीं, बल्कि उस संरचना को बदलना है, ताकि वे ‘स्वाधीन प्राणी’ बन सकें। निश्चय ही ऐसा बदलाव उत्पीड़कों के प्रयोजनों की जड़ खोदने वाला होगा। यही कारण है कि वे छात्रों के विवेकीकरण से डरते हैं और इस खतरे को टालने के लिए शिक्षा की बैंकीय अवधारणा का इस्तेमाल करते हैं।” ■

—पृ. 36

स्रोत : ‘उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र’, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित, सन् 1997, पृ. 33-36.



## अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच

अकादमिक समुदाय के प्रति आमतौर पर और खास कर सांस्कृतिक और अकादमिक संस्थानों में नियुक्तियों को लेकर राजग के नेतृत्व की हुकूमत के जिद्दी और संकीर्ण मानसिकता वाले रवैए से अभाशिअमं गंभीर रूप से चिंतित है। राष्ट्रीय और राज्य-स्तरीय महत्व के संस्थानों में बजट में आवंटित आर्थिक सहयोग से होने वाली नियुक्तियां सत्तासीन सरकारें किया करती हैं, पर यह सरासर झूठ है कि पहले की सरकारों ने पदों के लिए काबिलियत को नज़रअंदाज कर हमेशा अपने लोगों की नियुक्तियां कीं, हालांकि इसके अपवाद जरूर दिखते हैं। मौजूदा सरकार इस बात में बिल्कुल अलग दिखती है कि यह सभी प्रखर, तर्कशील और पेशेवर लोगों को हटाकर एक विशेष विचारधारा के लोगों को आगे बढ़ाने की हठ लिए बैठी है। दूसरी तरह के लोगों पर, वे किसी भी विचारधारा या दृष्टिकोण के क्यों न हों, 'नक्सल', 'मार्क्सवादी या 'कांग्रेस द्वारा नियुक्त' कह कर हमला किया जाता है, ताकि उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि पर ही ध्यान जाए, न कि उनकी अकादमिक प्रतिष्ठा और कुशलता को आंका जाए। फिर इसी बात को आधार बनाकर आरएसएस और सरकार की मौजूदा प्रवृत्ति के करीब के लोगों को उन पदों पर बैठाना सही करार कर दिया जाता है, जिनके लिए वे जाहिर तौर पर नाकाबिल हैं – ऐसा इसलिए कि हर सरकार को अपने लोगों को नियुक्त करने का अधिकार है।

इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी (आईआईटी) बनारस हिंदू विश्वविद्यालय (बीएचयू) द्वारा डॉ. संदीप पांडे को अतिथि अध्यापक पद से हटाया जाना इसी रवैए को सामने लाता है। केमिकल और मेकानिकल इंजीनियरिंग विभाग में पढ़ा रहे डॉ. पांडे प्रतिष्ठित अकादमिक और प्रोफेसर हैं। वे जाने-माने जमीनी कार्यकर्ता भी हैं और खुद को गांधीवादी कहते आए हैं। उन्हें 2002 में मैगसेसे सम्मान मिला था और वे सोशलिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया के अग्रणी शख्स हैं। कक्षा और समाज दोनों जगह शोषितों और गरीबों की आवाज को उन्होंने उठाया है। 1991 में साथियों के साथ मिलकर उन्होंने बुनियादी तालीम पर काम करती 'निस्वार्थ' संस्था की स्थापना की। वे राष्ट्रीय जनांदोलन संघ (एनएपीएम) के संस्थापकों में से हैं और

करीब एक दशक तक इसके संयोजक रहे। अब वे संघ की संयोजन टीम के सलाहकार हैं। पर आज उन पर आरोप लगाया जा रहा है कि वे नक्सलवादी हैं और उन्होंने निर्भया पर प्रतिबंधित फिल्म दिखलाई। इसके अलावा उन पर 'देशद्रोही' गतिविधियों का आरोप भी लगाया गया है। उन्होंने इन आरोपों को सिरे से खारिज कर दिया है। पर चूंकि उन पर आरोप लगाने वाले दो लोग आरएसएस से जुड़े हुए हैं – एक बीएचयू के मौजूदा कुलपति, जिन्हें मानव संसाधन मंत्रालय द्वारा आईआईटी के प्रशासकीय बोर्ड द्वारा प्रस्तावित पांच नामों को दरकिनार कर बोर्ड का अध्यक्ष बनाया गया, और दूसरे आईआईटी – बीएचयू के फ़ैकल्टी मामलों के डीन – इन दोनों ने संदीप पांडे को निकालने का निर्णय थोपने में भूमिका निभाई। इस वजह से अकादमिक समुदाय और समाज के उन तरक्की पसंद हिस्सों में आक्रोश और प्रतिरोध उभरा है, जिन्हें अहिंसा के सिद्धांत, बुनियादी तालीम और छात्रों के प्रति उनकी प्रतिबद्धता की जानकारी है।

फिल्म एंड टेलिविजन इंस्टीट्यूट ऑफ इंडिया (एफटीआईआई) के प्रशासनिक बोर्ड के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति की व्यापक आलोचना पर सरकार के कट्टर रवैए की आम लोगों ने और फिल्म और टेलीविजन उद्योग की बिरादरी के हर हिस्से ने निंदा की है। छात्रों के पेशेगत हितों को काफी नुकसान पहुंचा है, पर लगता है कि इसके बावजूद सरकार ने 139 दिनों तक चली इस हड़ताल से कोई सबक नहीं लिया है। भारी तादाद में दंगा-पुलिस और राज्य की सुरक्षित पुलिस के सिपाहियों की मौजूदगी में 6 जनवरी 2016 को गजेंद्र चौहान को अध्यक्ष पद का भार देकर उनको छात्रों पर थोपा गया। लड़कियों समेत शांतिपूर्वक विरोध कर रहे छात्रों पर लाठी-चार्ज हुआ और 23 छात्रों को गिरफ्तार कर लिया गया। हालांकि भूतपूर्व छात्र बी. पी. सिंह को अकादमिक परिषद का अध्यक्ष, प्रशासकीय परिषद का उपाध्यक्ष और एफटीआईआई सोसाइटी का उपाध्यक्ष नियुक्त कर सरकार अपनी गलती मानने को मजबूर हुई है, पर वह अपने

पहले के निर्णय वापस नहीं ले रही है। इस वजह से चौहान प्रशासकीय मामलों के प्रभारी हो गए हैं।

हैदराबाद के केंद्रीय विश्वविद्यालय में आंबेडकर छात्र संघ के पांच दलित नेताओं को होस्टल से निकालने की चौकाने वाली घटना से यह जाहिर है कि हिंदुत्व के तथाकथित 'राष्ट्रवाद' के अलावा बाकी सभी नजरियों को दबाने के लिए किस तरह राजनीतिक विचारधारा को सामने रख सरकार के अधिकारों का गलत इस्तेमाल किया जा रहा है। उनके निष्कासन के कई कारणों में से एक यह दिखलाया गया है कि वे याकूब मेनन को दी गई सजा-ए-मौत का विरोध कर रहे थे।

इसके पीछे का असली कारण आंबेडकर छात्र संघ (एएसए) द्वारा 'मुजफ्फरनगर बाकी है' फिल्म दिखलाने का निर्णय है। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (एबीवीपी) ने इसे रोकने की कोशिश की और उनके एक छात्र ने फेसबुक पर एएसए के छात्रों के साथ गाली-गलौज किया। उससे मांग की गई कि वह माफी मांगे। छात्रों में व्यापक आक्रोश के चलते उसे लिखित माफी मांगनी पड़ी थी। पर स्थानीय भाजपा और आरएसएस समर्थकों ने एबीवीपी के साथ मिलकर कुलपति पर दबाव डाला कि वह झूठे इल्जामों पर एएसए के छात्रों को निष्कासित करें। दबाव में कुलपति के निष्कासन की नोटिस को छात्रों के विरोध के चलते रोकना पड़ा। इसके बाद मानव संसाधन केंद्रीय मंत्रालय की ओर से चिट्ठी आई, जो सिकंदराबाद के भाजपा संसद सदस्य और श्रम और रोजगार विभाग के मंत्री बंदारु दत्तात्रेय की इस सिफारिश पर लिखी गई थी कि मानव संसाधन मंत्री, स्मृति ईरानी के 'गतिशील नेतृत्व' में संस्थान (विश्वविद्यालय) में 'बेहतर स्थितियों की ओर बदलाव' लाए जाएं, और चिट्ठी में एएसए को 'जातिवादी, उग्रवादी और राष्ट्र-विरोधी' कहा

गया था। इसके बाद संघ परिवार की ताकतों ने कुलपति को आवेदन भेजा जिसमें याकूब मेनन के मसले पर एएसए के विरोध प्रदर्शन पर जवाब मांगा गया। इन दबावों के चलते बिना पर्याप्त जानकारी के और पीछे की घटनाओं में गए बिना कुलपति ने दलित छात्रों को होस्टल से निकालने का निर्णय लिया।

ये तीन मिसालें देश भर में अलग-अलग संस्थानों में तेजी से बढ़ती जा रही ऐसी घटनाओं में से हैं।

सरकार द्वारा उठाए गए कदम गतिशील अकादमिक परिवेश के लिए बड़ा खतरा हैं। खुली सोच, आलोचनात्मक, खुले वाद-विवाद के लोकतांत्रिक माहौल में ही बेहतर परिवेश बन सकता है। इसलिए अभाशिअमं मांग करता है कि आरएसएस/भाजपा की सरकारें मुल्क के अकादमिक, सांस्कृतिक और लोकतांत्रिक संस्थानों पर हिंदुत्व एजेंडा थोपने की कोशिश बंद करे और नीचे लिखे निर्णय तुरंत लागू करे -

1. आईआईटी (बीएचयू) में प्रो. संदीप पांडे की नियुक्ति रद्द करने का निर्णय वापस लिया जाए
2. एफटीआईआई के अकादमिक और प्रशासनिक परिषदों में गजेंद्र चौहान और संघ परिवार के समर्थकों को बनाए रखने के जिद्दी निर्णय को वापस लिया जाए
3. होस्टल से दलित छात्रों को निकाले जाने के आदेश वापस लिए जाएं। कुलपति और विश्वविद्यालय प्रशासन को इस असंवैधानिक कदम के लिए औपचारिक रूप से माफी मांगनी चाहिए।■

- 9 जनवरी 2016

## रोहित वेमुला की सांस्थानिक हत्या के खिलाफ प्रदर्शन

### 25 जनवरी 2016 : कर्नाटक प्रांत के जिला मुख्यालयों और तालुकों में विरोध प्रदर्शन

विश्वविद्यालयों में दलितों पर हो रहे अत्याचारों के खिलाफ 'कर्नाटक विद्यार्थी संगठन' (केवीएस) ने प्रांत के जिला मुख्यालयों और तालुकों में विरोध प्रदर्शन किए। इनमें मांडे, कोलार, बगलकोट, दवनगरे जिला मुख्यालय और मांड्या, के आर पेटे, बंगरपेट, चिंतामणि और बदामी तालुक तथा बंगलौर विश्वविद्यालय शामिल है। इन प्रदर्शनों में छात्र, महिलाएं, दलित एवं तरक्कीपसंद बुद्धिजीवी शामिल हुए और जिला कलेक्टर व तहसीलदारों को विरोध-पत्र पेश किए गए। ये प्रदर्शन 'एचसीयू चलो' की पुकार के समर्थन में किए गए। इनमें ये मांगे मुख्य थी -

1. दोषियों को एससी/एसटी उत्पीड़न कानून के मुताबिक सजा दी जाए - बंदारू दत्तात्रेय (केंद्रीय केबिनेट मंत्री) आलोक पांडे, आप्पा राव (कुलपति), सुशील कुमार, रामचंद्र राव (भाजपा एमएलसी),
2. आप्पा राव को कुलपति पद से हटाया जाए।
3. रोहित के परिवार के सदस्य को नौकरी दी जाए और परिवार को 50 लाख की क्षतिपूर्ति दी जाए।
4. दलित शोधछात्रों (5) के खिलाफ झूठे मामले रद्द हों।
5. बिना शर्त और तुरंत निलंबन वापस लिया जाए।

- 'कर्नाटक विद्यार्थी संगठन'

### 1 फरवरी 2016 : मुंबई में बायकुला से विधान भवन तक विरोध रैली

एडवोकेट प्रकाश आंबेडकर के संचालन में "रोहित को न्याय - ज्वार्ट एक्शन समिति, मुंबई" बैनर तले बायकुला में रानीबाग से विधान सभा तक जुलूस निकाला गया। आईआईटी बाम्बे, मुंबई विश्वविद्यालय, टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेस, टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च, निर्मला निकेतन, सिद्धार्थ कॉलेज, सरकारी लॉ कॉलेज, रूपारेल कॉलेज, सेंट जेवियर्स कॉलेज, इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ पापुलेशन साइंसेस, विवेकानंद कॉलेज, आंबेडकर कॉलेज आदि कई संस्थानों के छात्र मोर्चे के सदस्य हैं। इनके अलावा कई तरक्की पसंद राजनीतिक ताकतें, सांस्कृतिक समूह और स्थानीय संगठनों ने भी हिस्सा लिया। रोहित के लिए न्याय और मुक्त ऊंची तालीम में लोकतांत्रिकरण की मांग करते हुए करीब दस हजार लोग विरोध में शामिल हुए। रानीबाग मैदान से सैकड़ों की तादाद में शुरू हुए इस जुलूस में रास्ते में लोग जुड़ते गए। जुलूस, चक्रवर्ती शिवाजी टर्मिनल तक चलता रहा, जहां पुलिस ने प्रदर्शनकारियों को रोक लिया, सीएसटी स्टेशन के दूसरी ओर की सड़क पर प्रदर्शनकारी जमा हो गए। शाम साढ़े पांच बजे तक प्रदर्शन जारी रहा।

विरोध प्रदर्शन में मांग रखी गई कि रोहित की सांस्थानिक हत्या में शामिल कुलपति आप्पा राव, केंद्रीय मंत्री स्मृति ईरानी, बंदारू दत्तात्रेय, भाजपा सांसद सी रामचंद्र राव, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (एबीवीपी) अध्यक्ष सुशील कुमार आदि सभी दोषियों को एससी/एसटी उत्पीड़न रोकथाम कानून के अंतर्गत गिरफ्तार किया जाए और उन पर मुकदमा चलाया जाए। अन्य मांगों में कुलपति को हटाया जाना, रोहित के परिवार को 50 लाख की क्षतिपूर्ति मामले की न्यायिक जांच आदि शामिल हैं।

रैली को एडवोकेट प्रकाश आंबेडकर ने संबोधित करते हुए रोहित के मामले पर विस्तृत जानकारी दी। उन्होंने सही जांच और दोषियों को सजा देने की मांग की। उन्होंने चेतावनी दी कि यदि सरकार सही कदम नहीं उठाएगी तो पूरे महाराष्ट्र में विरोध उठ खड़ा होगा। रोहित के मित्र और उसके साथ निलंबित दोंता प्रशांत ने भी सबको उन घटनाओं के बारे में बतलाया कि कैसे ब्राह्मणवाद के खिलाफ संघर्ष करने पर केंद्रीय मंत्री बंदारू दत्तात्रेय के दबाव में अंततः उसने खुदकुशी

की। 'समर्थ विद्यार्थी अगाड़ी संगठन' के सदस्य दलित छात्र सुवर्ण साल्वे ने दलितों के साथ हो रहे अन्याय के खिलाफ देशभर में चल रहे आंदोलनों और भाजपा सरकार के दमनतंत्र का ब्योरा दिया। राष्ट्रीय स्तर पर रोहित को न्याय दिलवाने के लिए बड़े आंदोलन के लिए निर्णय लिया गया।

—ज्वार्ट एक्शन समिति, मुंबई

### 3 फरवरी 2016 : तमिलनाडु में आंबेडकर और रोहित वेमुला की प्रतिमाओं का अनावरण और राष्ट्रीय सेमिनार

तमिलनाडु के एसपीसीएसएस और अभाशिअमं ने आंबेडकर और रोहित वेमुला की प्रतिमाओं के अनावरण और राष्ट्रीय सेमिनार का आयोजन किया। मंच के अध्यक्ष मंडल के सदस्य प्रो. अनिल सद्गोपाल ने 'डब्ल्यूटीओ गैट्स के निर्देश में ऊंची तालीम : निश्चित विनाश की राह'; आईएमएससी के वैज्ञानिक प्रो. आर. रामानुजम ने 'नई शिक्षा नीति में बदलाव: प्रक्रिया में जरूरी बदलाव', मद्रास उच्चन्यायालय के वकील श्री 'सिगाराम' एस सेंटिलनाथन ने 'भारत के संविधान की मूल आत्मा के खिलाफ तालीम का बाजारीकरण'; रेवरेंड डॉ. एस. ए. जोन केनेडी ने 'नई शिक्षा नीति में बदलाव: खतरा और मांग' और सेंट मेरी कॉलेज के प्रिंसिपल रेवरेंड स्टीफेन प्रकाशम ने इसी विषय पर बयान रखे। प्रमुख आयोजक मंच के सचिव मंडल के सदस्य पी. बी. प्रिंस गजेंद्र बाबू थे।

—एसपीसीएसएस, तमिलनाडु एवं अभाशिअमं

### 7 फरवरी 2016 : तेलंगाना शिक्षा बचाओ समिति और अभाशिअमं द्वारा हैदराबाद शहर में

हैदराबाद के परवाना हाल में 'सामाजिक गैरबराबरी : विश्वविद्यालयों में जाति और मजहब के आधार पर भेदभाव (रोहित वेमुला की याद में)' शीर्षक से राष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किया गया। इसके पहले 6 फरवरी को अभाशिअमं (मंच) की ओर से एक प्रतिनिधिमंडल ने विश्वविद्यालय के कार्यवाही कुलपति प्रो. पेरियासामी से मुलाकत की। मंच के अध्यक्षमंडल के सदस्य प्रो. अनिल सद्गोपाल, प्रो. मधु प्रसाद, प्रो. चक्रधर राव, सचिव रमेश पटनायक और राष्ट्रीय परिषद के सदस्य रमेश बीजेकर, के. लक्ष्मीनारायण आदि इस प्रतिनिधिमंडल में शामिल थे। मंच ने कुलपति से मांग की कि विश्वविद्यालय को सार्वजनिक रूप से माफी मांगनी चाहिए कि प्रशासन ने राजनीतिक दबाव में रोहित वेमुला और उसके साथी छात्रों के सामाजिक बहिष्कार का आदेश जारी किया था, जिसकी वजह से अंततः रोहित की सांस्थानिक हत्या हुई। यह भी मांग की गई कि रोहित के वजीफे के पैसे तुरंत उसके परिवार को दिए जाएं। मंच की ओर से विश्वविद्यालय प्रशासन के सख्त विरोध का रुख देखते हुए कुलपति ने भरोसा दिया कि वे पूरे मामले को गंभीरता से लेते हुए सही कदम उठाएंगे। 7 फरवरी को राष्ट्रीय सेमिनार में प्रस्ताव पारित हुआ, जिसका सारांश नीचे है –

**सर्वसम्मति से पारित संकल्प :** 1. राष्ट्रीय सेमिनार में भाग ले रहे सभी प्रतिभागी हैदराबाद विश्वविद्यालय के दलित शोध छात्र रोहित वेमुला की दुखदायी मौत पर अपना गहरा शोक और सदमा प्रकट करते हैं। इस घटना ने भारत में विश्वविद्यालयों और ऊंची शिक्षा के हालात पर गंभीर सवाल खड़े किए हैं। इस मौत ने लोकतांत्रिक ताकतों को व्यवस्था की हठधर्मिता के साथ गहरे पूर्वग्रहों और भेदभाव की ओर सचेत किया है। सत्तासीन भाजपा से ताकत लेते हुए दक्षिणपंथी छात्र संगठन विरोध की आवाज को दबाने के लिए नैतिक पहरेदारी की भूमिका अपनाए हुए हैं। विश्वविद्यालयों में मानव के लिए ज्ञान के नए रास्ते खुलते हैं, इस धारणा को दरकिनार कर ये ताकतें माहौल में घुटन बढ़ा रही हैं। तमाम उत्पीड़नों को झेलते हुए, ज्ञान को आगे बढ़ाने वाले वैज्ञानिकों की तरह लोकतांत्रिक मूल्यों, मानव और कुदरत के प्रति प्यार जैसे गुणों से संपन्न रोहित को याद करते हुए सेमिनार यह दर्ज करता है कि विश्वविद्यालयों के कैंपसों में जीवंतता के लिए ये मूल्य बहुत जरूरी हैं।

2. नवउदारवादी ढांचे में फंसी उच्च शिक्षा में मानवीय मूल्यों के प्रति सम्मान नहीं बचा है, बल्कि मुनाफाखोरी और इंसान को उपभोक्ता बनाना इसका मकसद होता जा रहा है। रोहित ने इन बातों के खिलाफ आवाज उठाई और इंसान के

बुनियादी जज्बात पर ध्यान दिलाया। अभाशिअमं तालीम के गिरते स्तर के खिलाफ लड़ता रहा है और सारी तालीमी व्यवस्था के लोकतांत्रिकरण और मानवीयकरण के लिए लड़ते रहने का संकल्प दोहराता है।

यूनिवर्सिटी ग्रांट कमीशन (यूजीसी) और मानव संसाधन विकास मंत्रालय (एमएचआरडी) की नीतियों की वजह से रोहित को सात महीनों से वजीफा नहीं मिला था। विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) के निर्देशानुसार सरकार वजीफे खत्म करने की ओर बढ़ रही है। हम समान स्कूली शिक्षा के द्वारा भारत के हर बच्चे को स्तरीय तालीम पाने के अधिकार और शिक्षा-व्यवस्था के लोकतांत्रिकरण पर गहरा यकीन रखते हैं, और उसके लिए संघर्ष कर रहे हैं। ऐसा होने पर हाशिए पर खड़े समुदायों से और अधिक बच्चे ऊंची तालीम पाएंगे और इससे छात्रों और अध्यापकों के समुदायों का सामाजिक स्वरूप बदलेगा। इसी से विश्वविद्यालय व्यवस्था में ऊंची जाति और ऊंचे वर्गों का एकाधिकार टूटेगा।

हम तालीम के निजीकरण और व्यवसायीकरण को रोकने की अपनी मांग दोहराते हैं। हम पूरी शिक्षा व्यवस्था को सरकार द्वारा चलाने और पढ़े-लिखों और बाकी समाज में गहरे संबंध में यकीन रखते हैं।

मौजूदा हुकूमत ने विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता को नजरअंदाज किया है। संघ परिवार की वैज्ञानिक चेतना विरोधी दृष्टि से वे ज्ञान पाने के सभी केंद्रों को तबाह कर रहे हैं। आंबेडकर छात्र संगठन के नेताओं को सजा देने के लिए एमएचआरडी द्वारा भेजे खतों से इन ताकतों का हस्तक्षेप जाहिर होता है। मंच ऊंची तालीम को खुद मुख्तागी के लिए संघर्ष करता रहेगा।

3. यह सेमिनार मांग करता है कि नीतियां बनाने वाले, विश्वविद्यालयों के विद्वान जन और प्रशासक यह निश्चित करें कि कैंपसों में लोकतांत्रिक बहस की जगह बढ़े ताकि भविष्य में रोहित जैसे किसी छात्र को घुटन, अलगाव का एहसास इतना भारी न पड़े कि वह जिंदगी को छोड़कर मौत को चुन ले।

यह सेमिनार रोहित की मां, राधिका के बच्चे को पालने के दावे को खारिज करती इस धारणा का कि बच्चे को पिता की जाति से पहचाना जाता है, सख्त विरोध करता है। सावित्री बाई फुले और डॉ. आंबेडकर ने ऐसी पितृसत्तात्मक प्रवृत्तियों का विरोध किया था। हम मां के दावे को पूरा समर्थन देते हैं और हुकूमत से मांग करते हैं कि दुष्प्रचार को रोकते हुए उन सभी के खिलाफ एससी/एसटी उत्पीड़न (रोक) कानून की कारवाई करें, जो इसमें शामिल हैं।

यह चिंताजनक है कि श्री बंदारू दत्तात्रेय ने उग्रवादी, जातिवादी और राष्ट्रदोही जैसी गालियों का इस्तेमाल आंबेडकर छात्र संगठन की गतिविधियों के लिए किया और पूरे विश्वविद्यालय को ऐसी गतिविधियों का अड्डा बतलाया। यूनिवर्सिटी समुदाय को इसका विरोध करते हुए मंत्रालय से माफी मांगने के लिए दबाव डालना चाहिए था। अब यह विश्वविद्यालय के लिए लाजिम है कि वह सार्वजनिक रूप माफी मांगें और भविष्य में ऐसी भाषा का इस्तेमाल नहीं किया जाएगा यह सुनिश्चित करें।

4. हम यह भी मांग करते हैं कि इस मसले से जुड़े सभी दोषियों को, खासकर प्रो. आप्पा राव पोदिले (कुलपति, हैदराबाद वि. वि.), श्री बंदारू दत्तात्रेय (केंद्रीय श्रम मंत्री और सिकंदराबाद से सांसद) और श्रीमती स्मृति ईरानी (केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री), जो रोहित की मौत के जिम्मेदार और दोषी हैं, उनको सजा दी जाए ताकि भविष्य में विश्वविद्यालयों के कैंपसों में ऐसी घटनाएं दुबारा न हों।

—तेलंगाना शिक्षा बचाओ समिति एवं अभाशिअमं

## 26 फरवरी 2016 : अभाशिअमं की ओर से केरल के कन्नूर शहर में सार्वजनिक सभा

अभाशिअमं की ओर से कन्नूर शहर में म्युनिसिपल बस अड्डे के पास शाम 5 बजे सार्वजनिक सभा की गई। सभा में “जेएनयू की घटनाएं – फासीवाद की टेस्ट पुडिया” विषय पर चर्चा की गई। प्रख्यात लेखक श्री एन. प्रभाकरन मास्टर ने सभा का शुभारंभ किया। अध्यक्षता ऐडवोकेट विनोद पय्यड़ा ने की। वक्ताओं में के. सी. उमेश कुमार, डॉ. के. एन. अजय कुमार, सनी अंबर, के. सुनील कुमार एवं ऐडवोकेट कस्तूरी देवन आदि प्रमुख थे। ■

—एसपीसीएसएस, तमिलनाडु एवं अभाशिअमं

## 20 जनवरी 2016 : गोहाना (हरियाणा), विरोध प्रदर्शन व पुतला दहन

हैदराबाद विश्वविद्यालय के शोध छात्र रोहित वेमुला की आत्महत्या व चार छात्रों के निलंबन के मामले को लेकर जनसंघर्ष मंच के सदस्यों ने शहर में प्रदर्शन किया। मंच के सदस्यों ने समता चौक पर केंद्र सरकार के श्रममंत्री बंडारू दत्तात्रेय का पुतला दहन किया और उन्हें पद से बर्खास्त करने, छात्रों का निलंबन और उन पर लगाए गए प्रतिबंध को वापिस लेने की मांग की

प्रदर्शन का नेतृत्व मंच के प्रांतीय सलाहकार डॉ. सी. डी. शर्मा ने किया।

– जनसंघर्ष मंच, गोहाना

## 27 जनवरी 2016 : कैथल (हरियाणा), स्थानीय सामाजिक संगठनों द्वारा कैंडल मार्च

जिले भर के सामाजिक संगठनों ने हैदराबाद विश्वविद्यालय के दलित छात्र द्वारा आत्महत्या किए जाने की घटना को लेकर शाम को शहर के विभिन्न भागों में कैंडल मार्च निकाला। इसमें दलित अधिकार मंच, जनसंघर्ष मंच, अखिल भारतीय जनवादी महिला समिति, सीटू, नैकडोर, अखिल भारतीय दलित छात्र संगठन, सर्व कर्मचारी संघ सहित कई अन्य संगठनों के पदाधिकारियों ने उक्त घटना पर क्षोभ प्रगट किया और रोहित वेमुला की आत्महत्या के पीछे के कारणों की जांच तथा दोषियों के खिलाफ कड़ी कार्रवाई करने मांग की।

– जनसंघर्ष मंच, गोहाना

## 20 जनवरी 2016 – गोहाना (हरियाणा) विरोध प्रदर्शन, पुतला दहन

हैदराबाद विश्वविद्यालय के शोध छात्र रोहित वेमुला की आत्महत्या व चार छात्रों के निलंबन के मामले को लेकर जनसंघर्ष मंच के सदस्यों ने शहर में प्रदर्शन किया। मंच के सदस्यों ने समता चौक पर केंद्र सरकार के श्रममंत्री बंडारू दत्तात्रेय का पुतला दहन किया और उन्हें पद से बर्खास्त करने, छात्रों का निलंबन और उन पर लगाए गए प्रतिबंध को वापिस लेने की मांग की

प्रदर्शन का नेतृत्व मंच के प्रांतीय सलाहकार डॉ. सी. डी. शर्मा ने किया।

- जनसंघर्ष मंच, गोहाना

## 27 जनवरी 2016 – कैथल (हरियाणा) स्थानीय सामाजिक संगठनों द्वारा कैंडल मार्च

जिले भर के सामाजिक संगठनों ने हैदराबाद विश्वविद्यालय के दलित छात्र द्वारा आत्महत्या किए जाने की घटना को लेकर शाम को शहर के विभिन्न भागों में कैंडल मार्च निकाला। इसमें दलित अधिकार मंच, जनसंघर्ष मंच, अखिल भारतीय जनवादी महिला समिति, सीटू, नैकडोर, अखिल भारतीय दलित छात्र संगठन, सर्व कर्मचारी संघ सहित कई अन्य संगठनों के पदाधिकारियों ने उक्त घटना पर क्षोभ प्रगट किया और रोहित वेमुला की आत्महत्या के पीछे के कारणों की जांच तथा दोषियों के खिलाफ कड़ी कार्रवाई करने मांग की।

- जनसंघर्ष मंच, कैथल